आधुनिक भारतीय साहित्य

(Modern Indian Literature)

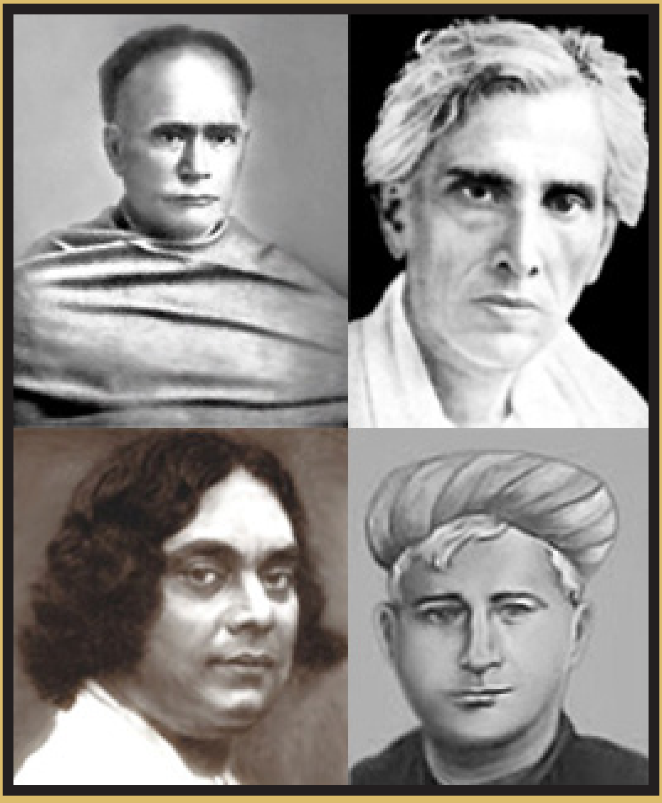

विनोद कर्ण

आधुनिक भारतीय साहित्य

आधुनिक भारतीय साहित्य
(Modern Indian Literature)

विनोद कर्ण

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली – 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5579-3

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य से तात्पर्य सन् 1947 के पहले तक भारतीय उपमहाद्वीप एवं तत्पश्चात् भारत गणराज्य में निर्मित वाचिक और लिखित साहित्य से है। जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं। प्रायः सभी का आदिकाल पन्द्रहवीं शती तक चलता है। पूर्वमध्यकाल की समाप्ति मुगल-वैभव के अन्त अर्थात् शती के मध्य में तथा सत्रहवीं शती के मध्य में तथा उत्तर मध्यकाल की अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के साथ होती है और तभी से आधुनिक युग का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है, सभी प्रायः समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

आधुनिक भारतीय कवियों ने विदेशों की ओर देखा और टी. एस. इलियट, मलार्मे, यीट्स या बौदेलेयर को अपने स्रोत के रूप में स्वीकार किया। ऐसा करते समय इन्होंने टैगोर, भारती, कुमारन् आसन, श्री अरविंद और गांधी को नई दृष्टि से देखा। तब पचास के दशक के इन कवियों और 'अंधकारमय आधुनिकतावाद' के साठ के दशक को भी अपनी पहचान के संकट से गुजरना पड़ा। पहचान का यह विशिष्ट संकट, परम्परागत भारतीयता और पश्चिमी आधुनिकता के बीच विरोध को उस समय के भारत के प्रमुख भाषाई क्षेत्रों के लेखों में देखा जा सकता है। जो पश्चिमी आधुनिकता पर अडिग रहे उन्होंने स्वयं को सामान्य जनसाधारण से और उसकी वास्तविकता से पृथक् कर लिया। प्रयोग की

संकल्पना कभी–कभी नए मूल्यों की तलाश और मूलभूत संस्कृतियों या मूल्य के स्रोतों की परीक्षा की तलाश करने के रूप में पश्चिमी प्रभाव से स्वतंत्र रूप से विकसित हुई।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

प्रस्तावना *v*

1. **स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय साहित्यिक परिदृश्य** **1**

जन्मकाल 4

विकास के चरण 5

समान सांस्कृतिक आधारभूमि 6

समान साहित्यिक आधारभूमि 7

2. **आधुनिककालीन हिंदी साहित्य का इतिहास–नई कविता** **9**

परिवेश 10

साहित्यिक वातावरण 12

शिल्पगत विशेषता 20

भाषा 20

लय, तुक और छंद 23

समकालीन हिंदी साहित्य के सतरंगी बिंब 57

3. **आधुनिक हिन्दी नाटक** **71**

मौलिक नाटक 73

अनुदित और रूपान्तरित नाटक 74

द्विवेदीयुगीन नाटक 78

पौराणिक नाटक 80

ऐतिहासिक नाटक 81
सामाजिक–राजनैतिक समस्यापरक नाटक 81
व्यवसायिक दृष्टि से लिखे नाटक 81
प्रहसन 82
अनुदित नाटक 82
प्रसाद–युगीन नाटक 83
प्रसादोत्तर–युगीन नाटक 90
आधुनिक हिंदी नाटकों के चिंतन का स्वरुप 99
4. समकालीन सामाजिक परिदृश्य 106
5. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास 111
गद्य का विकास 111
भारतेन्दु पूर्व युग 112
भारतेन्दु युग 112
द्विवेदी युग 113
सुधार काल (द्विवेदी युग) 116
नई कविता और समकालीन कविता 117
नवजागरण काल 118
6. कहानी स्वरूप एवं संवेदना 124
विदेशी विद्वानों के अनुसार 124
भारतीय विद्वानों के मतानुसार 124
7. आधुनिककालीन हिंदी साहित्य का इतिहासध्दलित विमर्श 134
परिवेश 134
दलित साहित्य की अवधारणा 135
दलित शब्द से अभिप्राय 135
दलित आंदोलन और वैचारिक आधार 136
दलित आत्मकथाएं 137
स्वामी अछूतानन्द 140
डॉ. भीमराव अम्बेडकर 141
प्रमुख हिंदी दलित साहित्यकार 142
बिहारी लाल हरित 143
मोहनदास नैमिशराय 144

1

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय साहित्यिक परिदृश्य

स्वतंत्रता के पश्चात, पचास के दशक में समाज के विघटन और भारत की विगत विरासत के साथ एक खण्डित संबंध के दबाव के कारण निराशा अधिक स्पष्ट हो गई थी। 1946 में भारत में स्वतंत्र होने से कुछ समय पूर्व और देश के विभाजन के पश्चात इस उप–महाद्वीप की स्मृति का सबसे बुरा हत्याकाण्ड देखा। उस समय भारत की राष्ट्रीयता शोक की राष्ट्रीयता बन गई थी। उस समय अधिकांश नए लेखकों ने पश्चिमी आधुनिकता के फार्मूलों पर आधारित एक भयानक कृत्रिम विश्व को चित्रित किया है। प्रयोगवादियों ने आन्तरिक वास्तविकता के संबंध में चिन्ता व्यक्त की है– बुद्धिवाद ने आधुनिकता के क्षेत्र में प्रवेश कर लिया था। भारत जैसी किसी संस्कृति में अतीत यूँही नहीं व्यतीत होता। यह वर्तमान के लिए उदाहरण उपलब्ध्ध कराता रहता है, लेकिन आधुनिकता संबंधी प्रयोगों के कारण लय खण्डित हो गई थी।

अधिकांश भारतीय कवियों ने विदेशों की ओर देखा और टी.एस. इलियट, मलार्मे, यीट्स या बौदेलेयर को अपने स्रोत के रूप में स्वीकार किया। ऐसा करते समय इन्होंने टैगोर, भारती, कुमारन् आसन, श्री अरविंद और गांधी को नई दृष्टि से देखा। तब पचास के दशक के इन कवियों और 'अंधकारमय आधुनिकतावाद' के साठ के दशक को भी अपनी पहचान के संकट से गुजरना पड़ा। पहचान का

यह विशिष्ट संकट, परम्परागत भारतीयता और पश्चिमी आधुनिकता के बीच विरोध को उस समय के भारत के प्रमुख भाषाई क्षेत्रों के लेखों में देखा जा सकता है। जो पश्चिमी आधुनिकता पर अडिग रहे उन्होंने स्वयं को सामान्य जनसाधारण से और उसकी वास्तविकता से पृथक कर लिया। प्रयोग की संकल्पना कभी-कभी नए मूल्यों की तलाश और मूलभूत संस्कृतियों या मूल्य के स्रोतों की परीक्षा की तलाश करने के रूप में पश्चिमी प्रभाव से स्वतंत्र रूप से विकसित हुई। वात्स्यायन अज्ञेय (हिन्दी), नवकान्त बरुआ (असमी) बी.एस. मर्ढेकर (मराठी), हरभजन सिंह (पंजाबी), शरतचन्द्र मुक्तिबोध (मराठी) और वी के गोकाक (कन्नड़) का एक नए आन्दोलन को समृद्ध बनाते हुए एक विशिष्ट स्वर तथा दृष्टि के साथ आविर्भाव हुआ। इसके अतिरिक्त, सामाजिक यथार्थवाद के साहित्य की जड़ें अपनी मिट्टी में थीं और यह समकालिक साहित्य में एक प्रभावी प्रवृत्ति बन गई।

यह तीस के दशक और चालीस के दशक के प्रगतिशील साहित्य का निर्वाहक था लेकिन इसका दृष्टिकोण निश्चित रूप से चरम केंद्रित था। मुक्तिबोध (हिन्दी), विष्णु दे (बांग्ला) या तेलुगु नग्न (दिगम्बर) कवियों ने जड़ से उखड़ी पहचान के बढ़ते हुए संकट के विरोध में कवियों के एकाकी संघर्ष को उद्घाटित किया। इन्होंने पीड़ा और संघर्ष के विषय पर राजनीतिक काव्य लिखे। यह एक नए तरह का काव्य था। डॉ. राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण व आचार्य नरेंद्र देव की समाजवादी विचारधारा से भारतीय साहित्य में नई दृष्टि आयी। वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य, यू.आर. अनंतमूर्ति ने श्रेष्ठ रचनाएं दी। हिन्दी में 'परिमल' साहित्यिक आंदोलन प्रारंभ हुआ। विजयदेव नारायण साही, धर्मवीर भारती, रघुवंश, केशव चंद्र वर्मा, विपिन अग्रवाल, जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने साहित्य की धारा बदल दी। साहित्य ने अब पददलितों और शोषितों को अपना लिया था।

कन्नड़ विद्रोही एक वर्ण- समाज में हिंसा के रूपों को लेकर चिन्तित थे। धूमिल (हिन्दी) जैसे व्यक्तियों ने सामाजिक यथार्थवाद की एक शृंखला दिखाई। ओ.एन.वी. कुरुप (मलयालम) ने सामाजिक अन्याय के प्रति अपने क्रोध की तेजी को अपनी गीतात्मकता में शामिल किया। इसके पश्चात सत्तर के दशक का नक्सली आन्दोलन आया और इसके साथ की आधुनिकता के बाद की स्थिति ने भारत के साहित्यिक दृश्य में प्रवेश किया। भारत के संदर्भ में, आधुनिकता के बाद की स्थिति मीडिया-प्रचालित और बाजार-नियंत्रित वास्तविकता की

प्रतिक्रिया के रूप में आई थी और यह स्थति अपने साथ विरोध एवं संघर्ष भी लेकर आई।

भारतीय साहित्य से तात्पर्य सन् 1947 के पहले तक भारतीय उपमहाद्वीप एवं तत्पश्चात् भारत गणराज्य में निर्मित वाचिक और लिखित साहित्य से है। दुनिया में सबसे पुराना वाचिक साहित्य आदिवासी भाषाओं में मिलता है। इस दृष्टि से आदिवासी साहित्य सभी साहित्य का मूल स्रोत है। भारतीय गणराज्य में 22 आधिकारिक मान्यता प्राप्त भाषाएँ है। जिनमें मात्र 2 आदिवासी भाषाओं – संथाली और बोड़ो – को ही शामिल किया गया है। वर्तमान समय में भारत में मुख्यत: दो साहित्यिक पुरस्कार प्रदान किए जाते हैं, साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा ज्ञानपीठ पुरस्कार। हिन्दी तथा कन्नड भाषाओं को आठ-आठ ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किए गये हैं। बांग्ला और मलयालम को पाँच-पाँच, उड़िया को चार, गुजराती, मराठी, तेलुगु और उर्दू को तीन-तीन, तथा असमिया, तमिल को दो-दो और संस्कृत को एक ज्ञानपीठ पुरस्कार दिया गया है।

गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है। भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है – उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बंगाल में असमिया, मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएं हैं जिनका साहित्यिक एवं भाषावैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है- जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिंधी, कोंकणी, तुलू आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषत: पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का, अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण- सभी की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण ग्रंथों का संचयन किया जाये तो वह यूरोप के संकलित ग्रंथ से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है- ज्ञान का अपार भंडार, हिंद महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्म की कल्पना से भी अधिक सूक्ष्म हैं।

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता और उसके आधार-तत्व

भारत की प्रत्येक भाषा के साहित्य का अपना स्वतंत्र और प्रखर वैशिष्ट्य है जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिंधी, इधर हिन्दी

और उर्दू की प्रदेश–सीमाएं कितनी मिली हुई हैं ! किंतु उनके अपने–अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है ! इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन–जीवन परस्पर ओतप्रोत है, किंतु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रांति संभव है ! दक्षिण की भाषाओं का उद्गम एक है—सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियां हैं, परन्तु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वरूप के विषय में शंका हो सकती है ! यही बात बांग्ला , असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बंगाल के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाये हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी–अपनी विशिष्ट विभूतियां हैं। तमिल का संगम–साहित्य, तेलगु के द्वि–अर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान–साहित्य, मलयालम के संदेश–काव्य एवं कीर–गीत (कलिप्पाटु) तथा मणिप्रवालम् शैली, मराठी के पवाड़े, गुजराती के अख्यान और फागु, बँगला का मंगल काव्य, असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगति, उर्दू की गजल और हिंदी का रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने–अपने भाषा–साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचार–धाराओं और जीवन प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिवयंजना–पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज–संभव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिकता एकता और भी रमणीय है।

जन्मकाल

दक्षिण में तमिल और उधर उर्दू को छोड़कर भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्मकाल प्रायः समान ही है। तेलुगु साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय, जिनका समय है ईसा की ग्यारहवीं सती। कन्नड का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है 'कविराजमार्ग', जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट–वंश के नरेश नृपतुंग (814–877 ई.)य और मलयालम की सर्वप्रथम कृति हैं 'रामचरितम्' जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा–स्वरूप आदि की अनेक समस्याएँ और जो अनुमानतः तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव–काल लगभग एक ही है। गुजराती का आदि–ग्रन्थ सन् 1185 ई. में रचित शालिभद्र

सुरि का 'भारतेश्वरबाहुबलिरास' है। मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं में सत्य है। बँगला की चर्यागीतों की रचना शायद दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी, असमिया साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्राय: तेरहवीं शताब्दी के अंत के हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएँ 'प्रह्लादचरित्र' तथा 'हरिगौरीसंवाद'। उड़िया भाषा में भी तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगते हैं।

उधर चौदहवीं शती में तो उड़िया के व्यास सारलादास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं जिनका जन्मकाल भिन्न है तमिल, जो संस्कृत के समान प्राचीन है (यद्यपि तमिल-भाषी उसका उद्‌गम और भी पहले मानते हैं) और उर्दू, जिसका वास्तविक आरम्भ पंद्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता। हालाँकि कुछ विद्वान उर्दू का भी उद्‌भव 13-14 वीं शती के बाबा फरीद, अब्दुल्ला हमीद नागोरी तथा अमीर खुसरो की रचनाओं से मानने लगे हैं।

विकास के चरण

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्राय: समान ही हैं। प्राय: सभी का आदिकाल पन्द्रहवीं शती तक चलता है। पूर्वमध्यकाल की समाप्ति मुगल-वैभव के अन्त अर्थात शती के मध्य में तथा सत्रहवीं शती के मध्य में तथा उत्तर मध्याकाल की अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के साथ होती है और तभी से आधुनिक युग का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है, सभी प्राय: समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं। इस समानांतर विकास-क्रम का आधार अत्यंत स्पष्ट है और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम।

समान राजनीतिक आधारभूमि

बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है। मुगल-शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में घनिष्ठ संपर्क बना रहा। मुगलों की सत्ता

खंडित हो जाने के बाद भी यह संपर्क टूटा नहीं। मुगल–शासन के पहले भी राज्य–विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे। राजपूतों में कोई एक छत्र भारत–सम्राट तो नहीं हुआ, किंतु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे। शासन भिन्न–भिन्न होने पर भी उनकी सामंतीय शासन–प्रणाली प्राय: एक–सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अँग्रेजों ने तो केन्द्रीय शासन–व्यवस्था कायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा–भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

समान सांस्कृतिक आधारभूमि

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध–धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव–शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ–संप्रदाय उठ खड़ा हुआ जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरंभ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में, पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्राय:सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव–पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति एवं सिद्धांत–प्रतिपादन दोनों के लिए कवि–कर्म में प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन सम्प्रदायों का प्रभाव प्राय: विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी संत–सम्प्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफी–संत का प्रसार देश के भिन्न–भिन्न भागों में होने लगा। संत–संप्रदाय वेदांत दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे। सूफी धर्म में भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी, किंतु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति।

सूफी–संतो का यद्यपि उत्तर–पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बीजापुर और गोलकुंडा राज्यों में भी इनके अनेक केंद्र थे और वहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफी संत हुए। इनके पश्चात् वैष्णव आंदोलन का आरंभ हुआ जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों की देश–भर में प्रसार हुए और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला–गान से गुंजारित हो उठा। उधर मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी

निरंतर बढ़ रहा था। ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्त्व-जैसे वैभव-विलास, अलंकरण सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नयी दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्दमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसमें रह गयी। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य-शिक्षा का संस्कार लाये और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं शती में अंग्रेजी का प्रभुत्व सारे देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस संपर्क और संघर्ष से आधुनिक सहित्य का जन्म हुआ।

समान साहित्यिक आधारभूमि

भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक आधारभूमि एक ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात्य साहित्य - अर्थात कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट, श्रीहर्ष, अमरूक और जयदेव आदि की अमर कृतियाँ, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला। शास्त्र के अन्तर्गत उपनिषद्, 'षड्दर्शन, स्मृतियाँ आदि और उधर काव्यशास्त्र के अनेक अमर ग्रन्थ नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि की विचार-विभूति का उपयोग भी सभी ने निरन्तर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा-स्रोत हैं जो प्राय: सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वत: ही आ गई है। इस प्रकार समान राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।

भारतीय साहित्य - एक विहंगम् दृष्टि

सबसे पुराना जीवित साहित्य ऋग्वेद है जो संस्कृत भाषा में लिखा गया है। संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं से गुजरते हुए आज

हम भारतीय साहित्य के आधुनिक युग तक पहुंचे हैं। भारत में 30 से भी ज्यादा मुख्य भाषाएँ हैं और 100 से भी अधिक क्षेत्रीय भाषाएँ है। लगभग हर भाषा में साहित्य का प्रचुर विकास हुआ है। भारतीय भाषाओं के साहित्य में लिखित और मौखिक दोनो ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में हिन्दू धार्मिक ग्रंथो की अहम भूमिका रही। वेदों के साथ-साथ रामायण और महाभारत जैसे महाग्रंथ प्राचीन भारत में रचे गए। अन्य प्राचीन ग्रंथो में वास्तु शास्त्र, कौटिल्य अर्थ-शास्त्र, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि प्रमुख है।

2

आधुनिककालीन हिंदी साहित्य का इतिहास–नई कविता

नयी कविता 'भारतीय स्वतंत्रता' के बाद लिखी गयी उन कविताओं को कहा गया, जिनमें परंपरागत कविता से आगे नये भावबोधों की अभिव्यक्ति के साथ ही नये मूल्यों और नये शिल्प–विधानों का अन्वेषण किया गया। यह अन्वेषण साहित्य में कोई नयी वस्तु नहीं है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रायः सभी नये वाद या नयी–नयी धाराएं अपने पूर्ववर्ती वादों या धाराओं की तुलना में कुछ नवीन अन्वेषण की प्यास लिये दिखायी पड़ती है। साहित्य की यह नवीनता सदैव 'लाध्य है, यदि वह अपना संबंध बदलते हुए सामाजिक जीवन के मूल सत्यों से बनाये रखे।

इस प्रकार नित नवता की एक परंपरा गतिमान रही है। फिर भी 'नयी कविता' नाम स्वतंत्रता के बाद लिखी गयी उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया, जो अपनी वस्तु–छवि और रूप–छवि दोनों में पूर्ववर्ती प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विकास हो कर भी विशिष्ट हैं। नयी कविता की प्रवृत्तियों की परीक्षा करने पर उसकी सबसे पहली विशिष्टता जीवन के प्रति उसकी आस्था में दिखायी पड़ती है।आज की क्षणवादी और लघु मानववादी दृष्टि जीवनमूल्यों के प्रति नकारात्मक नहीं, स्वीकारात्मक दृष्टि है।

नयी कविता ने जीवन को उपर्युक्त धाराओं की कविताओं की तरह न तो एकांगी रूप में देखा,न केवल महत्त्व रूप में,बल्कि उसके जीवन को (वह चाहे किसी वर्ग का हो, चाहे व्यक्ति का हो,चाहे समाज का हो) जीवन के रूप में देखा। इसमें कोई सीमा नहीं निर्धारित की, मनुष्य किसी वर्गीय चेतना, सिद्धांत अथवा आदर्श की बैसाखी पर चलता हुआ इसके पास नहीं आया,वह अपने संपूर्ण दुरूख-सुख, राग-विराग के परिवेश से संयुक्त रूप में आया।

परिवेश

आजादी के बाद लिखी गई उन कविताओं को नयी कविता कहा गया। जिनमें परंपरागत कविता से आगे नये जीवन- भावबोधों और नये शिल्प-विधान का अन्वेषण किया गया। यह नयापन आजादी के बाद बदले हुए नए पर्यावरण की देन थी। हालांकि साठ के बाद साठोत्तरी पीढ़ी के समकालीन कवियों ने जिस मोहभंग को महसूस किया। उसके त्रासद और कड़वे अनुभव भी इस कविता में मिलने लगते हैं।

जगदीश गुप्त ने नई कविता के विषय में लिखा, 'नई कविता उन प्रबुद्ध आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है, जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नये कवि के समान है अर्थात् जो उसके समानधर्मी है।' कई अर्थों में सन् 1947 के बाद की हिंदी कविता में अचरज में डालने वाले नए प्रयोगों के नाम पर असामाजिक, स्वार्थ-प्रेरित,अहम्निष्ठ,घोर रुग्ण व्यक्तित्व, दमित वासनाओं और कुंठाओं, चूड़ी. चोटी और चपल जैसे विषयों को बिना किसी बड़े रचनात्मक उद्देश्य के कविता का रूप दिया जाने लगा। ये सभी विशेषताएँ नयी कविता के कवियों ने प्रयोगवादी कविता से ग्रहण की थी। इस युग की कविता में यह प्रवृत्तियाँ थोड़ी बदली हुई रूप में मिलती है।

दिलचस्प तथ्य यह है कि ऐसा करने वाले कई कवि पहले प्रगतिवादी थे, बाद में प्रयोगवादी हो गये वे अपने-आप को वामपंथी कहते थे, किंतु असलियत में यह बने हुए या दिखावटी वाममार्गी थे। इन कवियों ने प्रयोगवाद के विरोध को देखते हुए नयी कविता में शरण ली। जल्दी ही इनकी वास्तविकता उजागर हो गई। लोगों ने नयी कविता के मुखौटे के पीछे दिखावटी प्रयोगवाद के इस चेहरे को पहचान लिया।

वास्तविक प्रयोगवादी कवियों ने दो बड़े काम किए- एक तो व्यक्ति के मन की उलझी हुई संवेदनाओं और अचेतन मन के सत्यों को आज के युग सत्य

मानकर उन्हें उद्‌घाटित करने की कोशिश की। दूसरी उन्होंने उन मानसिक सच्चाईयों को प्रकाशित कर सकने लायक नये शिल्प का अन्वेषण किया। प्रयोगवादी कविता जीवन के जुड़ाव से कटकर रह गयी क्योंकि इसका कवि जीवन के प्रति बेहद निराश था।

नयी कविता का सफर सन् 1943 में अज्ञेय द्वारा संपादित और प्रकाशित 'तारसप्तक' से शुरू होती है। इसे तीन चरणों में बांटकर देख सकते हैं।

(1) पहले दौर की नयी कविता में लगभग वही कवि हैं, जिनकी रचनाएँ 'तारसप्तक' में प्रकाशित हुईं। 'तारसप्तक' के इन कवियों में केवल डॉ. रामविलास शर्मा ही ऐसे कवि थे, जो अंत तक प्रगतिवादी ही रहे। वे क्लासिक और अनिवार्य वामपंथ छोड़कर उदारवादी वाममार्ग पर चले। सप्तक-परंपरा से अलग कवियों में नरेश मेहता सरीखे कवियों की रचनात्मक प्रगतिशीलता विकसित हुई। इस चरण के अन्य कवियों में नागार्जुन ने तीखे राजनीतिक व्यंग्य लिखे। वे कविता को आगे ले गए। बालकृष्ण राव की कविता में आस्था, आशा और आत्मविश्वास देखने को मिलता है। जगदीश गुप्त के भीतर सौंदर्य और प्रेम का रचनाकार एवं सजग चित्रकार विकसित हुआ है। दुष्यंत कुमार की कविता गजल के शिल्प में व्यक्त हुई है। ठाकुर प्रसाद सिंह ने लोकगीतों की भाव संपदा को नवगीतों में उतारने की सफल कोशिश की है। कीर्ति चौधरी नयी कविता के प्रथम चरण की भाव चेतना की रचनाकार हैं। इस चरण की समाप्ति अज्ञेय के कविता संग्रह 'आंगन के द्वार पर (सन् 1961) के प्रकाशित होने पर होती है।

(2) दूसरे चरण के नई कविता के कवियों में मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह तथा विजयदेव नारायण साही प्रमुख हैं। यह सब अलग-अलग जमीनों और विचारधाराओं के कवि हैं। इनकी कविताओं में द्वंद्व, संघर्ष-विद्रोह, विसंगति, आक्रोश, बेचैनी की अभिव्यक्ति है। आधुनिकता का संपूर्ण युगबोध इन कविताओं का केंद्रीय स्वर है। इस दौर की कविता में मानवीय स्वतंत्रता, लघु मानव की स्थापना और आत्म चेतना के प्रखर स्वर है।

(3) तीसरे दौर में पहुंचकर नयी कविता अलग-अलग दिशाओं में मुड़ती है। यह नयी कविता की विघटन की स्थिति न होकर उसके विकास की स्थिति थी। इस युग के लघु मानव के अस्तित्व के असमर्थता बोध से नयी

कविता का कवि प्रभावित हुआ। तत्कालीन मनुष्य का सौंदर्यबोध नष्ट हो गया। इसका नए कवि पर असर हुआ। परिणाम यह हुआ कि विवशता, भय, ऊब, आतंक और अकेलेपन का बोध नयी कविता पर छाने लगा। नयी कविता की एक और काव्यधारा मनुष्य की स्थितिहीनता को स्वीकार कर रही थी। लेकिन वह मूल्यहीनता को लक्ष्य नहीं मानती थी। इस धारा के कवि मानव–मुक्ति और सत्य की उपलब्धि में विश्वास करते हैं। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। इन कवियों में केदारनाथ सिंह, विपिन कुमार अग्रवाल, अशोक वाजपेयी, मणि मधुकर, अजित कुमार आदि के नाम उल्लेखनीय है। यह नई कविता के अंतिम दौर में उभरने वाले कवि हैं। इनमें से मणि मधुकर, केदारनाथ सिंह और अशोक वाजपेयी परवर्ती पीढ़ी के महत्त्वपूर्ण कवि के रूप में प्रतिष्ठित हए।

साहित्यिक वातावरण

छायावादी व्यक्तिगतता से निकलकर प्रगतिवादी सामाजिकता में तो हम पहुंचे थे परंतु उसका प्रभाव समाप्त हो गया। नये 'प्रयोग' के स्वर भी मंद हो चुके थे। 'वाद' की प्रवृत्ति से कविता को बाहर कर जनता के बीच, जनता के दरबार में लाना कवियों को अभिप्रेत था। नयी कविता में प्रगतिवाद का सामाजिक भावबोध है तो प्रयोगवाद की शिल्पगत विशिष्टता है। प्रयोगवादियों की आत्मकेंद्रितता, निराशा को उन्होने सामाजिक व्यापार का आधार दिया। नयी कविता की भिन्नता यही है। लक्ष्मीकांत वर्मा ने 'दूसरा सप्तक' के बाद के कवियों ने सारी कविता को दूसरा सप्तक के निकटवर्ती पाते हुए किन्हीं अर्थों में कुछ भिन्नता का अनुभव किया। ये वही सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक भिन्नता है जो नयी कविता प्रवृत्तियों में विकसित हुई। साथ ही विदेशी वादों का प्रभाव भी उस पर रहा है। खासकर वाद विषय में मनोविश्लेषण का तो अभिव्यक्ति क्षेत्र में बिंब प्रतीक का निराला द्वारा 'खून सींचा खाद का तूने अशिष्ट, डाल पर मंडरा रहा है कैपिटलिस्ट' की घोषणा ने परिस्थिति की वास्तविकता को पहचाना था। जिसमें यथार्थ का दामन पकड़कर प्रगतिवाद उभर कर आया। वही प्रयोगवाद में सामाजिक अतियथार्थवाद में अपनी कुंठा की व्यंजना साहित्य में करता रहा।

नयी कविता मात्र सभी प्रकार के दूषणों से मुक्त प्रांगण में आयी। प्रयोगवाद को नई कविता की भूमिका कहा जा सकता है। देवराज ने सही कहा

है कि, 'इन कविताओं को नयी कविता की पूर्ववर्ती कहा जा सकता है, इन कविताओं की प्रकृति का अध्ययन करने से इसमें और 'नयी कविता' आंदोलन की काव्य-चेतना में अंतर स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है, किन्तु यह अन्तर विरोधी नहीं है, यह विकास प्रक्रिया का अन्तर है।' इसलिए देवराज इसे नयी कविता भी नहीं कहते उन्हें 'संक्रमणकालीन कविताएँ' कहते है, किन्तु 'नयी कविता' नाम अब उसके लिए एक बार चल पड़ा जो वही रहा है।

नई कविता की काव्यगत प्रवृत्तियाँ

(1) जीवन-जगत के प्रति अगाध प्रेम एवं आस्था—नयी कविता के कवियों ने जीवन को उत्सव के रूप में देखा है। उन्होंने समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति के जीवन में इन संदर्भो को रेखांकित करने की कोशिश की है। नयी कविता में जीवन के प्रति प्रेम, आशा, विश्वास और आस्था की आवाजें सुनायी पड़ती है। नई कविता के प्रगतिशील रूझान के कवि केदारनाथ अग्रवाल 'युग की गंगा' की भूमिका में लिखते हैं कि- 'इन कविताओं में पलायनवादिता नहीं है, देश की जागृति, शक्ति का उबाल है।' केदार की 'कोहरा' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियाँ इस का प्रमाण है-

1. 'पर निश्चय है, दृढ़ निश्चय है इतना, दिनकर जाएगा लपटों से लिपटा। भस्मीभूत करेगा कोहरा क्षण में, प्यारी धरती को स्वाधीन करेगा।'
2. 'फूल नहीं रंग बोलते हैं कविता की निम्न पंक्तियों में भी केदार जीवन के प्रति आस्था प्रकट करते हैं।
3. 'पेड़ नहीं पृथ्वी के वंशज हैं फूल लिए फल लिए मानव के अग्रज हैं।'
3. दुष्यंत कुमार की कविता की निम्न पंक्तियों में भी हमे इंसानी जीवन के साथ लगाव की भावना दिखाई देती है।
4. 'चेतना ये, होकर सफल आए न आए, पर मैं जिऊंगा नयी फसल के लिए, कभी ये नयी फसल आए न आए।'
5. नई उम्र की नई फसल का प्रयोगवादी अनदेखा कर रहे थे नई कविता ने उसमें निहित आस्था-विश्वास को प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया है।

(2) आस्था और विश्वास—नई कविता में निराशा, अनास्था और अविश्वास के साथ-साथ आशा, आस्था और विश्वास के स्वर भी सुखद प्रतिपक्ष के रूप में सुनाई पड़ते हैं। आरंभ में इन कवियों में घोर निराशा दिखाई देती है, लेकिन बाद में यही कवि आशा और विश्वास से भरी कविताएँ लिखने लगे।

यही आशावादी दृष्टिकोण आगे चलकर समकालीन प्रश्नों और समस्याओं से जूझता हुआ दिखाई देता है। आशा का बिंब आगे चलकर स्वास्थ्य का प्रतीक बन गया है।

(3) मानवतावादी यथार्थ दृष्टिकोण–नयी कविता के कवियों का मानवतावाद किताबी आदर्श की हवाई कल्पनाओं पर नहीं टिका है। यथार्थ की प्रखर चेतना मनुष्य को उसके समूचे पर्यावरण सहित समझने का बौद्धिक उपक्रम तथा जटिल मानवीय संवेदना के अनेकायामी स्तरों तक अनुभूतिपरक और विश्लेषात्मक स्तरों तक पहुंचने की कोशिश करती है। इस युग में मानव की भौतिक प्रगति के अनेक रास्ते खुले हैं, किंतु साथ ही उसके अपने अस्तित्व के लिए विषम-विसंगत परिस्थितियाँ भी पैदा हुई हैं। यह युग-सत्य है। मनुष्य को इन उलझी हुई और संकट में डालने वाली परिस्थितियों पर काबू पाना है। निराशा, पीड़ा और दुख को झेलकर सुखों को बांटना है। दुष्यंत कुमार के काव्य संग्रह 'सूर्य का स्वागत' में संकलित एक कविता की निम्न पंक्तियाँ इस अनुभूति को अभिव्यक्त करती हैं-

'छोटी-सी एक खुशी अधरों में आई मैंने उसको जला दिया मुझ को संतोष हुआ और लगा हर छोटे को बड़ा करना धर्म है।'

केदारनाथ सिंह के कविता संग्रह 'अभी बिल्कुल अभी' की कविताएँ भी कवि के यथार्थपरक मानवतावादी विचारों को उजागर करती हैं।

(4)महानगरीय और ग्रामीण मानवीय सभ्यता का यथार्थ चित्रण–नयी कविता में महानगरीय शहरी तथा ग्रामीण जीवन संस्कारों के नवीन और यथार्थवादी चित्रण मिलते हैं। इस दौर में कविता के केंद्र गाँव और छोटे शहरों से शिफ्ट होकर महानगर बन रहे थे। कई सभ्यताओं और संस्कारों के आपसी टकराव नई कविता में दर्ज हुए हैं।

अज्ञेय ने शहरी जीवन की यथार्थ शक्ल अपनी 'साँप' शीर्षक में उभारते हुए लिखा है-

'साँप! तुम सभ्य तो हुए नहीं, नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया। एक बात पूछा-(उत्तर दोगे?) तब कैसे सीखा डसना- विष कहाँ से पाया?'

यहाँ तीखा व्यंग्य भाव है जबकि धूमिल अपने गांव खेवली का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं-

'वहाँ कोई सपना नहीं है। न भेड़िये का डर। बच्चों को सुलाकर औरतें खेत पर चली गई हैं। खाये जाने लायक कुछ भी शेष नहीं है। वहाँ सब कुछ सदाचार की तरह सपाट और ईमानदारी की तरह असफल है।'

नई कविता में परिवेश, मनुष्य–जीवन और उसकी सभ्यता में आते बदलावों का यथार्थ अंकन हुआ है।

(5) घोर वैयक्तिकता–नई कविता का केंद्रीय विषय निजी मान्यताओं,विचारधाराओं एवं अनुभूतियों को उजागर करना है। नई कविता अहम के भाव से ग्रस्त और त्रस्त है। कई जगह वह आत्म विज्ञापन का घोर समर्थक नजर आती हैं।

'साधारण नगर के एक साधारण घर में मेरा जन्म हुआ --'--'--' जुट गया ग्रंथों में मुझे परीक्षाओं में विलक्षण श्रेय मिला।'

यह नए कवि भारत भूषण अग्रवाल के जीवन का निजी सत्य है।

(6) निराशा–नई कविता में मनुष्य की सहायता, विवशता, अकेलापन,मानवीय–मूल्यों का विघटन, सामाजिक विषमताओं तथा युद्ध के विकराल परिणामों का चित्रण किया गया है जिससे कवि के हताश मन का अवलोकेन होता है।

'प्रश्न तो बिखरे यहाँ हर ओर है, किंतु मेरे पास कुछ उत्तर नहीं।'

कवि अपने चारों ओर सवाल–दर–सवाल महसूस करता है, किंतु उनका उत्तर उसके पास नहीं है।

'आस्था न काँपे, मानव फिर मिट्‌टी का भी देवता हो जाता है।' अज्ञेय इन पंक्तियों में मानव पर विश्वास व्यक्त करते हैं।

(7) नास्तिकता–बौद्धिक एवं वैज्ञानिक युग से संबंधित होने के कारण नई कविता में भावात्मक दृष्टिकोण से विरोध दिखाई पड़ता है। नए कवि का ईश्वर, नियति भाग्य, मंदिर और अन्य देवी–देवताओं में भरोसा नहीं है। वह स्वर्ग–नरक का अस्तित्व नहीं मानता–

'उर्वशी ने डांस स्कूल खोल दिया है। गणेश जी टॉफी खा रहे हैं।' भारतभूषण अग्रवाल इन पंक्तियों में देवी–देवताओं का उपहास उड़ाते हैं।

(8) क्षणवाद का महत्त्व–नयी कविता क्षणों की अनुभूतियों को महत्त्व देती है। वह क्षणों में बंटे जीवन की पूर्णता क्षणों में जीना चाहती है। नयी कविता के कवियों के यहाँ एक–एक क्षण का बोध जीवन की चरम अनुभूति और संदर्भगर्भित जीवन सत्य है। अपने दर्शन के अनुसार वे जीवन का संपूर्ण उपभोग करना चाहते हैं। नयी कविता अनुभूति पूर्ण गहरे क्षण–प्रसंग, कार्य–व्यापार या सत्य को उसकी आंतरिक मार्मिकता के साथ पकड़ लेना चाहती है। इस प्रकार

जीवन के सामान्य दीखने वाले व्यापार या प्रसंग नयी कविता में नया अर्थ-संदर्भ पा जाते हैं-

'आओ इस झील को अमर कर दें। छूकर नहीं किनारे बैठ कर भी नहीं एक संग झांक इस दर्पण में अपने को दे दें हम इस जल को जो समय है।'

इन रचनाकारों के लिए 'जो भी है। बस यही एक पल है' का क्षणवादी अनुभव समूचा जीवन सत्य बन जाता है। नई कविता का कवि क्षण-विशेष की अनुभूति को विशेष महत्त्व देता है। उसके लिए सुख का एक क्षण संपूर्ण जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण है-

'एक क्षण-क्षण में प्रवहमान व्याप्त संपूर्णता।' नया कवि क्षण में ही जीवन की पूर्णता के दर्शन करता है।

(9) भोगवाद और वासना-नई कविता में क्षणवादी विचारधारा ने भोगवाद को जन्म दिया है। नई कविता में भोग और वासना का स्वर मुख्य है। नया कवि आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अभाव के कारण उधार की उत्सवधर्मिता का पक्षपाती बन गया है। इसके बहाव में उसने सामाजिक मूल्यों का उल्लंघन भी किया है। वह आत्मिक सौंदर्य की उपेक्षा कर दैहिक सौंदर्य को सर्वोपरि मानता है। इस प्रकार नई कविता कहीं-कहीं समाज में अश्लीलता, अनैतिकता और अराजकता का वातावरण उत्पन्न करती हुई दिखाई पड़ती है-

'प्यार है अभिशप्त तुम कहाँ हो नारी?' अज्ञेय की यह पंक्तियाँ इस संदर्भ में देखने योग्य है।

(10) नए जीवन मूल्यों की प्रस्तावना-नयी कविता नए जीवन मूल्यों को प्रस्तावित करती है। इस सिलसिले में यह कवि पुराने मूल्यों की परीक्षा करते है। ये मूल्य नए युग की आवश्यकताओं के परिवेश में कितने खरे उतरते हैं और अपने पारंपरिक रूप में कितने असंगत हो गये हैं? इनका कैसा स्वरूप आज के लिए प्रासंगिक है? इत्यादि प्रश्न नयी कविता का कवि करता है। उसकी सवालिया निगाह इन मूल्यों के नए मनुष्य के संदर्भ में परखती है। इस पड़ताल में मूल्यगत असंगतियाँ नए कवि के व्यंग्य का निशाना बनती हैं। नये संदर्भों में सिद्ध होने वाले मानवीय मूल्यों के प्रति कवि अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। नई कविता बदलते मापदंड और मूल्यों या मूल्यहीनता पर प्रकाश डालती है।

(11) व्यंग्य का तीखा स्वर-नयी कविता में व्यंग्य का स्वर बेहद तीखा और निर्मम है। नयी कविता का कवि जीवन की व्यावहारिकता और तार्किकता पर भरोसा करता है। वह देखता है जीवन की असलियत और सोच

में काफी अंतर है। ऐसे में विरूपित यथार्थ के प्रति उसका व्यंग्यात्मक तेवर जाग जाता है। उसका दृष्टि यथार्थ को अनदेखा नहीं कर पाती-

'झाड़ने फूंकने वालों को बुलाओ या किसी डॉक्टर को दिखाओ ठीक हो जाएगा सर्प का काटा है न मैंने समझा किसी मनुष्य ने काट खाया है।'

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना व्यवस्था और तंत्र द्वारा पोषित चटकार संस्कृति।

'क्योंकि कुत्ता आदत से टुकड़खोर है तुम्हें टुक्कड़ खोरी के रास्ते बंद करने होंगे।'

अपनी कविता 'गरीबी हटाओ' में उनका व्यंग्य और भी तीखा और मार्मिक हो जाता है-

'गरीबी हटाओ सुनते ही सब के सब फटे जूते सिलवा और चप्पलों में कील जड़वा चल दिये. काफी चल लेने के बाद जब वे सोचने बैठे किधर जायें। तब तक उनके जूते फिर टूट चुके थे और वे नंगे पैर थे मोची की तलाश में।'

व्यंग्य अभावों से उपजता है और सवाल में बदलकर करुणा जगाता है। रचनाकार को अपने समय और समाज को विसंगतियां बर्दाश्त नहीं होती तो उसकी प्रश्नाकुलता व्यंग्य भाव में बदल जाती है। इसे नयी कविता में भी देखा जा सकता है।

नई कविता में कवियों ने अपने समय और समाज में व्याप्त विषमता का व्यंग्यात्मक चित्रण किया है। व्यंग्यात्मक शैली में जीवन और सभ्यता के चित्रण में कवि को आशातीत सफलता भी मिली है। श्रीकांत वर्मा ने 'नगरहोन मन' शीर्षक कविता में आज के नागरिक जीवन की स्वार्थपरता, छल-छद्म-कपट से भरी जींदगी को स्वर दिया है। अज्ञेय की कविता 'साँप' में भी नागरिक सभ्यता पर तीखा कटाक्ष है।

(12)अति बौद्धिकता–नई कविता के कवियों में महसूस करने की क्षमता कम है। कवियों ने बुद्धि के द्वारा दिमागी कवायद की है। नया कवि हृदय को प्रकट न करके बुद्धि का ही अधिक आश्रय लेता है। उन्होंने अपनी बुद्धि से अपने समय और समाज की समस्या पर गंभीर चिंता दर्ज की है और ये कवि अपनी समस्याओं का समाधान भी बौद्धिकता के धरातल पर खोजते हैं।

(13) नए शिल्प की प्रतीक योजना और बिंब विधान–नयी कविता के कवियों ने नएपन के अतिआग्रह की वजह से विलक्षण और अपूर्व प्रतीक प्रयोग किया है। अज्ञेय लिखते हैं-

'अगर मैं यह कहूं बिछली घास हो तुम लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की?'

मुक्तिबोध के नए उपमान विचित्र हैं–

'अहं भाव उत्तुंग हुआ है तेरे मन में जैसे धूरे पर उठा है धृष्ट कुकुरमुत्ता उन्मुक्त'

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता का प्रतीकार्थ निराला है। एक उदाहरण देखिए–

'लोकतंत्र को जूते की तरह लाठी में लटका भागे जा रहे हैं सभी सीना फुलाए।'

नयी कविता में ऐसी अनूठी बिंब-योजना मिलती है जितनी इस से पूर्ववर्ती हिंदी कविता में नहीं थी। नयी कविता के बिंब अधिकतर प्रतीकात्मक और सांकेतिक होते हैं। कई जगह उसमें जटिलता और दुरुहता भी मिलती है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'यह खिड़की' शीर्षक कविता का कथ्य अपना शिल्प निर्धारित करता हुआ कई अमिट बिंबों की रचना करता है–

'जिंदगी मरा हुआ चूहा नहीं है जिसे मुख में दबाए बिल्ली की तरह हर शाम गुजर जाए और मुंडेर पर कुछ खून के दाग छोड़ जाए।'

विचारों के कवि श्रीकांत वर्मा भी कई जगह प्रतीकात्मक बिंबों में अपनी बात रखते हैं–

'एक अदृश्य टाइपराइटर पर साफ-सुथरे कागज-सा चढ़ता हुआ दिन तेजी से छपते मकान, घर, मनुष्य...' घास का घराना' के सृजक मणि मधुकर लिखते हैं–

'मेरी असलियत में एक छेद है, चुगलखोर है और सचमुच मुझे उस का खेद है।'

बेहद प्रतिभाशाली लेकिन उतने ही अल्पचर्चित अजित कुमार की निम्न पंक्तियाँ नई कविता की सार्थक और कतई नई बिंब-योजना के उदाहरण-रूप में अक्सर प्रस्तुत की जाती हैं–

'चंदनी चंदन सदृश हम क्यों लिखें? मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें? हम लिखेंगे चाँदनी उस रुपए सी है जिसमें चमक है पर खनक गायब है हम कहेंगे जोर से मुंह पर अजायब है जहाँ पर बेतुके, अनमोल, जिंदा और मुर्दा भाव रहते हैं।'

नए कवियों ने आधुनिक खड़ी बोली के अनेक रूपों को प्रयुक्त किया है तथा अनेक नए विशेषणों एवं क्रियापदों का भी निर्माण किया है। इन्होंने भाषा के सौंदर्य में वृद्धि के लिए नवीन प्रतीक–योजना, बिंब–विधान एवं उपमान योजना को भी अपनाया है। प्राकृतिक बिंब का एक नवीन उदाहरण दर्शनीय है–

'बूंद टपकी एक नभ से किसी ने झुक कर झरोखे से कि जैसे हँस दिया हो!'

नए कवियों ने छंद के बंधन को स्वीकार न करके मुक्त परंपरा में ही विश्वास रखा है। कहीं लोकगीतों के आधार पर रचना की है, कहीं अपने क्षेत्र में नए प्रयोग भी किए हैं। कुछ ऐसी भी कविताएँ लिखी हैं जिनमें न लय है, न गति है, बल्कि पद्य जैसी शुष्क और नीरस है। कुछ नए कवियों ने रुबाइयों, गजलों और सॉनेट पद्धति का भी इस्तेमाल किया है। नई कविता के कवियों ने बिल्कुल उपमानों, प्रतीकों और बिंबों का प्रयोग किया है। अज्ञेय पुराने उपमानों से उकताकर नवीन उपमानों के प्रयोग पर बल देते हैं। नया कवि वैज्ञानिक उपमानों का प्रयोग भी करता है। इन कवियों ने कलात्मक, प्राकृतिक, वैज्ञानिक, पौराणिक तथा यौन प्रतीकों का खुलकर प्रयोग किया है। कलात्मक प्रतीक का उदाहरण देखिए–

'ऊनी रोएंदार लाल–पीले फूलों से
'––'––'––'––'––'
छोटा–सा एक गुलदस्ता है।'

नई कविता के बिंब का धरातल भी व्यापक है। इन कवियों ने जीवन, समाज और उनसे संबंधित समस्याओं के लिए सार्थक एवं सजीव बिंबों की योजना की है। ये बिंब मानव–जीवन और प्रकृति से लिए गए हैं–

'मरहरे वाले शौचालय के जंगल में झुकी पीपल डाल आचमन करती नदी का।'

नई कविता आज भी नए कथ्यरूप में मौजूद है। साठोत्तरी समकालीन कविता, कविता, विद्रोही कविता, संघर्षशील कविता, आज की कविता आदि अनेक काव्य धाराएँ नयी कविता आंदोलन के बाद अस्तित्व में आई लेकिन सब में दृश्य–अदृश्य रूप में एक अमिट अंतर्धारा बनकर नयी कविता की उपस्थिति महसूस होती रही है। आज की कविता में भी नई कविता खुद को विकसित कर रही है।

शिल्पगत विशेषता

प्रयोगवादियों की शिल्प प्रवृत्ति का प्रभाव नयी कविता में दिखाई देता है। बिम्ब,प्रतीक, नवीन अप्रस्तुत विधान आदि का प्रयोग पूर्ववर्ती कविता के साथ नयी परिवर्तन दृष्टि से किया गया है। नयी कविता के भीतर अभिव्यक्ति की सम्प्रेषणीयता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो चुका है। भाषा संरचना, भाषा प्रयोग, अनुभावित संवेद्य–तत्व, गतिशीलता की दृष्टि से नयी कविता की भाषा विशिष्ट है।

भाषा

नये कवियों में यह विचार पनपा कि परंपरागत भाषा से युग–जीवन के सही चित्रण की आशा नहीं की जा सकती थी। मूल रूप में यही कारण था जिससे नये कवि को भाषा संस्कार की आवश्यकता पड़ी।' नयी कविता भाषा की विशेषता यह है कि वह किसी एक पद्धति में बंधकर नहीं चलती किन्तु प्रभावी एवं सशक्त अभिव्यक्ति के लिए उत्कृष्ट कवि बोलचाल की भाषा–प्रयोग को प्राधान्य देता है। नयी कविता भी उसी को स्वीकार करती है। भवानी प्रसाद कीश्सतपुड़ा के जंगल' कविता जंगल प्रकृति और प्रवृत्ति दोनों को सामने लाती है आशोक वाजपेयी की कविता 'शहर अब भी संभावना है' का उदाहरण देवराज ने दिया है, 'माँ लौटकर जब आऊँगा क्या लाऊँगा यात्रा के बाद की थकान सूटकेस में धर भर के लिए कपड़े मिठाइयां, खिलौने बड़ी होती बहनों के लिए अंदाज से नयी फैशन की चप्पलें संस्कृत, अंग्रेजी उर्दू, जनपदीय बोली–शब्द का प्रयोग नयी कविता में हुआ है। त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, धूमिल, सर्वेश्वर आदि में यह देखे जाते हैं। 'लोक भाषा, लोक धून' और 'लोक संस्कृति' का प्रयोग 'गीति साहित्य' में हुआ है। अज्ञेय की कलगी बाजरे की कविता उत्कृष्ट उदा है।

नयी कविता के नये मुहावरे भाषा को 'सार्वजनिक' बनाते हैं। भाषा का साधारणीकरण नयी कविता की विशेषता है। कहीं कही सपाटबयानी या वक्तव्य नुमाश्भाषा का प्रयोग भी प्रचुर हुआ है। धूमिल आदि की भाषा इसी प्रकार की है। सामान्य आदमी, सामान्य भाषा उनकी खासियत है।

'काँपती हुई आँखों ने मुझे क्षणभर टटोला और फिर जैसे पतियाते हुए स्वर में वह हँसते हुए बोला बाबूजी! सच कहूँ–मेरी निगाह में न कोई छोटा है न कोई

बड़ा है मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है जो मेरे सामने मरम्मत के लिए खड़ा है।'

नयी कविता में गद्य भाषा का प्रयोग भी सर्व स्वीकृत हो गया है। अधिकार लम्बे चौड़े वाक्य, वक्तव्य देने, बात समझाने, वर्णन करने में इसी प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई है।

अज्ञेय की कविता का एक उदाहरण-

'और एक चौथा मोटर में बैठता हुआ चपरासी फाइलें उठाएगा एक कोई बीमार बच्चे को सहलाता हुआ आश्वासन देगा-देखो, हो सका तो जरुर ले आऊँगा'

और एक कोई आश्वासन की असारता जाते हुए भी मुस्काराकर कहेगा- 'हाँ, जरुर, भूलना मत। इससे क्या कि एक की कमर झुकी होगी और एक उमंग से गा रहा होगा- 'मोसे गंगा के पार...' और एक के चश्मे का काँच टूटा होगा और एक के बस्ते में स्कूल की किताबें अधिक से अधिक फटी हई होगी? एक के कुरते की कुहनियाँ छिदी होंगी,

एक के निकर में बटनों का स्थान एक आलपीन ने लिया होगा। नयी कवियों के रचनाओं में चिन्ह संकेतों से भी कविता पंक्तियाँ लिखी जा चुकी है। एक शब्द एक पंक्ति बना है। तो दूसरी ओर विराम, अर्धविराम, पूर्णविराम के चिन्हों को तिलांजलि दी गयी है। जैसे- 'भाषण में जोश है पानी ही पानी है पर कींचड खामोश है'

मुक्तछंद का, मुक्तक शैली का स्वीकार नयी कविता की धारा में हुआ है। जटिल एवं उलझी हुई अनुभूतियों को व्यक्त करते समय जैसा चाहा वैसा प्रयोग हुआ है। इसको देवराज भाषा क्षेत्र में 'विद्रोह' कहते हैं और इसके पीछे 'चमत्कार की अपेक्षा विवशता' की अधिकता मानते है। 'बदले हुए परिवेश को चित्रित करने के लिए उन्होंने 'एक ऐसा मुहावरा स्वीकार कर लिया था, जिसके अनुसार आपाद-मस्तक कीचड़ से भरे मानव को भी मानव तुम सबसे सुंदरतम कहना जरुरी था।' इसलिए उन्होंने भाषा को ही नये संस्कार दिये। प्रगति-प्रयोग काल की अपेक्षा नयी कविता की भाषा-शैली नयी ही रही है।

प्रतीक

नयी कविता में परंपरागत तथा नये प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। कुछ कवियों के कविता शीर्षक ही प्रतीकात्मक है। अज्ञेय की 'नदी के द्वीप' सागर तट की

सीपियाँ, मुक्तिबोध की 'ब्रह्मराक्षस' 'भूल-गलती' 'लकड़ी का रावण' अंधेरे में 'अंधेरा, काला पहाड, तिलक की मूर्ति, गांधी, आकाश में तालस्ताय आदि प्रतीक ही है। 'ब्रह्मराक्षस' वर्तमान में यांत्रिक संघर्षों के बीच पीड़ित मानव का प्रतीक है, तो 'लकड़ी का रावण' शोषक सत्ता का और 'वानर जनवादी क्रांतिकारियों के प्रतीक है।

नयी कविता में तीन प्रतीक रुपों का प्रयोग हुआ है। एक जिनका संबंध भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा से है। इनमें प्राकृतिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, अन्योक्ति मूलक, रुपक मूलक और बिम्ब मूलक आदि आते है। दूसरे वे प्रतीक है जिन्हें नये कवियों ने गढ़ा हैं और तीसरे वे प्रतीक है जो भारतीय साहित्य में किसी एक भाव-बोध के प्रतिनिधि है तथा दूसरे देशों के साहित्य में किसी दूसरे भाव-बोध के किन्तु नये कवियों ने दूसरे देश की मान्यता के आधार पर ही उन्हें अपने काव्य में प्रयुक्त किया है-

'लो क्षितिज के पास वह उठा तारा, अरे! वह लाल तारा नयन का तारा हमारा सर्वहारा का सहारा' में भारत भूषण अग्रवाल ने 'लाल तारा' रूसी क्रांति के रुप में प्रयुक्त किया है जबकि भारत में वह अपशकुन का प्रतीक माना जाता है। अज्ञेय की 'साँप' 'बावरा आहेरी' इसी प्रकार की कविता है। खंडकाव्यों में पौराणिक प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। कर्ण, द्रोण, अभिमन्यु, एकलव्य, अश्वत्थामा, सीता, द्रोपदी, आदि।

बिम्ब

बिम्ब को मूर्त शब्द-चित्र कहते हैं। कविता के लिए वह महत्त्वपूर्ण साधन है जो कवि अनुभूति को प्रभावक्षमता के साथ पाठकों तक पहुंचाता है। स्वंयनिर्मित मौलिक बिम्ब का प्रचुर प्रयोग नयी कविता में हुआ है। बिम्ब कई प्रकार के होते हैं। मुक्तिबोध ने बिम्बों का समर्थ प्रयोग कविता में किया है। उन्होंने मानव-हृदय की जटिलता को एक प्राकृत गुहा के समान बिंब माना है-
'भूमि की सतहों के बहुत नीचे अंधियारी एकान्त प्राकृत गुहा एक।'

प्रतीकात्मक बिंबों का तो खजाना ही नयी कविता में है। मुक्तिबोध में ब्रह्मराक्षस, अंधी गुफा, भूत आदि। के साथ ही संशय की एक रात, कनुप्रिया, असाध्य वीणा, मोचिराभ, आदि में कई बिंबों को प्रस्तुत किया गया है। मनोवैज्ञानिक तथा यौन बिंबों को भी प्रयुक्त किया गया है परंतु उत्तरोत्तर नयी कविता ने बिंबों की जगह सपाटबयानी वक्तव्य दिये हैं। बाद के कवियों ने

संभवतः बिंबों को काव्य का साधक मानने के बजाय बाधक ही माना है। केदारनाथ सिंह जैसे कवि जिन्हे बिंबों का कवि कहा जाता है वे भी कह रहे हैं-

'तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार' वहाँ लिख दो 'सड़क' फर्क नहीं पड़ता। मेरे युग का मुहावरा है फर्क नहीं पड़ता और भाषा जो मैं बोलना चाहता हूँ मेरी जिहवा पर नहीं बल्कि दाँतों के बीच की जगहों में सटी हुई है।'

डॉ. नामवर सिंह ने ठीक कहा है- 'वस्तुः इस बिंब-मोह के टूटने का कारण सामाजिक और ऐतिहासिक है। छठे दशक के अंत और सप्तवें दशक के आरंभ में सामाजिक स्थिति इतनी विषम हो उठी कि उसकी चुनौती के सामने बिंब-विधान कविता के लिए अनावश्यक भार प्रतीत होने लगा।

लय, तुक और छंद

लय, तुक और छंद की अवधारणा छायावाद से हटने लगी है। निराला ने मुक्त छंद की घोषणा की पंत ने भी नयी काव्य भाषा को अपनाया नयी कविता ने तो छंद को अस्वीकृत ही किया परंतू उसके नये प्रयोग भी हुए हैं। देवराज ने ठीक कहा है- नयी कविता में छन्द को केवल घोर अस्वीकृति ही मिली हो- यह बात नहीं है, बल्कि वहाँ इस क्षेत्र में विविध प्रयोग भी किए गए हैं। इस संबंध में पहला प्रयोग हिन्दी के पुराने छंदों को तोड़कर नया मुक्त छंद बनाया गया, जैसे गिरिजाकुमार ने कवित्त व सवैया में तोड़-फोड़ की रामविलास शर्मा ने छनाक्षरी से रुबाई का निर्माण किया दूसरे प्रयोग में विविध देशी-विदेशी भाषाऔ के छंदों को नयी कविता में लाया गया। देशी भाषा में, बंगला, मराठी, संस्कृत और विविध लोक-भाषाओं के छंद समय समय पर प्रयोग किए गए। विदेशी भाषाओं में अंग्रेजी के 'सॉनेट' 'बैलेड' जापानी का 'हायकू' और चीनी फ्रेंच और अमरीकी कविता के चित्रों को नयी कविता में प्रयोग किया गया।' छंद का संबंध संगीत से रहा है और संगीत तुक, लय से जुड़ा है। नयी मुक्त छंद कविता 'गीत कविता के रुप में विकसित हुई है परंतू इन गीतों में केवल भावानुकूलता नहीं जीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व मनोवैज्ञानिक स्थितियों का अंकन है। 'गीत' नयी कविता की महत्त्वपूर्ण विशेषता मानी जाती है। जो लोकगीत 'लोक धुनों लोक परंपराओं, लोक संस्कृति' से जुड़ा है।

उपसंहार

नई कविता जनता की और जनता के साथ की कविता है। वह परंपरा से विच्छेद होने के बावजूद परंपरा से मुक्त नहीं है। इस कविता आंदोलन से हिन्दी साहित्य में मुक्तिबोध,भवानी प्रसाद मिश्र, शमशेर बहादुर सिंह, कीर्ति चौधरी, भारतभूषण अग्रवाल, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ अग्रवाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त, मुद्रा राक्षस, नेमिचंद्र जैन,प्रभाकर माचवे, राजकमल चौधरी, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, दुष्यन्त कुमार, धूमिल, कुंवर नारायण, कैलाश वाजपेयी, श्रीराम वर्मा, दुधनाथ सिंह जैसे सशक्त महत्त्वपूर्ण कवि उभरकर आये। देवराज ने कहा है कि 'इस कविता ने ही पहली बार व्यक्ति को व्यक्ति की परंपरा में रखकर देखने का प्रयास किया। भक्तिकाल से लेकर प्रगतिवाद तक व्यक्ति को मंदिर, महल, स्वर्ग, आकाश, और मार्क्स की तथाकथित मार्क्स वादियों द्वारा स्वयं की गई अस्वाभाविक व्याख्याओं के रंगीन फोटो में लपेटा जा रहा है। नयी कविता ने ही उसे आम जिन्दगी की अच्छाइयों और बुराइयों के बीच मनोवैज्ञानिक रुप में चित्रित किया है। अतः नयी कविता ने व्यक्ति को परंपरा से काटा नहीं, बल्कि जोड़ा है। 'यह मत सही भी प्रतीत होता हो परंतु कबीर जैसे कवियों ने जनता की बात जनता की भाषा में कही है, वह हिन्दी साहित्य में पहला कवि और उसकी कविता है जिसने जनाभिव्यक्ति को पूर्ण रुपेण स्वीकार किया था। नयी कविता में यह परंपरा फिर विकसित होती है। यह उसकी कटी परंपरा से जुड़ी भावनाएँ है ऐसा कहा जायेगा 'भक्ति काल' शब्द प्रयोग जब देवराज करते है तो कबीर उसी काल में आते हैं और उन्हें यों खारिज करना, योग्य होगा, क्योकि शुक्लजी के अनुसार 'ऊँच-नीच और जाति-पॉति के भाव का त्याग और भक्ति के लिए मनुष्य मात्र के समानाधिकार को स्वीकार था। 'कबीर में मनुष्य मात्र के लिए समानाधिकार की भावना ने उन्हें सामाजिक, जनताभिमुख बनाया और उन्हीं के दुःख, पीड़ा, विषमता को कविता में लाया मनुष्य पर ईश्वर, धर्म, परंपरा, रुढ़ियों की गुलामी के वर्चस्व को उठाया।

वर्ण-विषय के साथ भाषा भी उसी प्रकार की रही है। 'खिचड़ी' अर्थात साधारण जन की भाषा है। नयी कविता में भी 'भीड़' 'समूह' अभिव्यक्त हुआ है। उसकी स्वतंत्रता की रक्षा का प्रश्न खड़ा किया गया है। उसके अन्तबाहय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ने उसे कबीर की परंपरा से जोड़ा ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आधुनिक हिंदी कविता

भारतीय साहित्य में परिवर्तन एवं नवीनता के लक्षण उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही दिखाई देने लगे थे। हिंदी साहित्य में भी परिवर्तन हुआ। नयापन आया। इसे नई दिशाएँ मिलीं। नए रूप प्राप्त हुए। नए आयाम मिले। सन 1850 के आसपास पाश्चात्य प्रभाव परिलक्षित हुए। मुगलों ने सल्तनत बख्श दी। सत्ता अंगरेजों के हाथ में आ गई। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियाँ परिवर्तित हुईं। ऐसी नितांत नई बदलती हुई परिस्थितियों ने युग को प्रभावित किया। युग भी बदला। अत: परिवर्तित युग में साहित्य का स्वर भी परिवर्तित होना स्वाभाविक था। सीमित वर्ण्य-विषय एवं लक्षण-उदाहरण ग्रंथ की परिसीमा को लाँघकर हिंदी साहित्य में आधुनिक काल आया।

'अधुना' अव्यय से 'आधुनिक' शब्द निर्मित हुआ है। इसका अर्थ होता है नया, हाल का अथवा वर्तमान समय का। आज जो 'आधुनिक' है वही कालांतर में पुराना हो जाएगा। साहित्य के इतिहास में अंतिम कालावधि को आधुनिक काल के नाम से जाना जाता है। 'आधुनिक' शब्द नवीनता का सूचक है। वैज्ञानिक-दृष्टि से परिचायक है। इसमें तर्क-वितर्क की प्रवृत्ति समाहित है। साथ ही, यह बौद्धिकता का भी संकेतक है।

भारत एक बहुजातीय देश है। बहुभाषिक राष्ट्र है। विविध धर्मावलंवियों का पीठ स्थान है। भारत की अपनी सभ्यता एवं संस्कृति है। इसकी अपनी जीवन-प्रकृति है। भारतीय सभ्यता, संस्कृति, भाषा, धर्म, जीवन-पद्धति, शासन-व्यवस्था का संपर्क पाश्चात्य देशों से हुआ। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हो रहे विकास से भारतीय परिचित हुए। भारतीयों ने एक नया अनुभव अर्जित किया। 'विश्वासे मिलई हरि, तर्के बहु दूर' को अग्राह्य किया गया। तर्क के आधार पर, वैज्ञानिक सूझ-बूझ तथा विचारों ने भारतीयों को प्रभावित किया। भारतीय चिंतकों एवं रचनाकारों ने परिवर्तित जीवनमूल्यों को देखा व समझा। अपने अनुभवों तथा दूरदर्शिता को साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान की। इसी बीच एक सौ साठ सालों में अकूत मात्रा में उत्कृष्ट साहित्य का सृजन हो चुका है। उस साहित्य पर प्रभूत मात्रा में लिखा जा चुका है। आगे भी लिखा जाएगा। युगीन संदर्भ के आधार पर सृजित साहित्य की आलोचना हो रही है। आगे भी होगी। परंतु ध्यान देने की बात है कि संपूर्ण भारतीय साहित्य में इस कालावधि (लगभग एक सौ साठ वर्षों) में जितने बदलाव आए हैं वे अभूतपूर्व हैं। आदि, भक्ति, रीति काल में वह वैविध्य अप्राप्त है जो आधुनिक साहित्य में विद्यमान है। समय बदलता गया बड़ी

तेजी के साथ। साहित्य के वर्ज्य-विषय, रूप, शैली आदि में द्रुत परिवर्तन परिलक्षित हुआ। 'आधुनिक हिंदी कविता-युगीन संदर्भ' परिवर्तित समय को पहचानने का एक सामान्य प्रयास है। आधुनिक काल में कवियों ने अपनी रचनाओं में अपने युग को कितने सार्थक रूप में प्रतिबिंबित किया है, इसे प्रस्तुति करने की चेष्टा की गई है।

भारतीय समाज में अंधविश्वास घर कर चुका था। धर्म, ब्रह्मचर्य, ढोंग एवं पाखंड का पर्याय बन चुका था। आधुनिक लेखकों, चिंतकों, कलाकारों, दार्शनिकों, धार्मिक व्याख्याताओं ने अंधविश्वास के स्थान पर तर्क का आश्रय लेने को कहा। वैज्ञानिक दृष्टि से सोच-विचार करने के लिए आग्रह किया। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, दयानंद सरस्वती आदि ने मनुष्य, समाज एवं देश के विकास के लिए प्रयास किया। भारतीयों में आत्मविश्वास और आत्मसम्मान जगाने का भरसक प्रयत्न किया।

शिक्षा-प्रकृति में भी परिवर्तन हुआ। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का प्रचार-प्रसार हुआ। देश-विदेश के ज्ञान-विज्ञान का परिचय मिला तो विद्यार्थियों को ज्ञान के क्षेत्र में नई उपलब्धियाँ हासिल हुईं। समसामयिक विचारकों की वैचारिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में साहित्य को समाज के साथ जोड़ने का प्रयास हुआ। तमाम प्रकार के भेद-भाव, जाति-प्रथा, छूआछूत का विरोध हुआ। शांति, मैत्री एवं प्रीति को बढ़ावा दिया गया। समानता, स्वतंत्रता, राष्ट्रीय चेतना के लिए लोगों को उद्‌बुद्ध करने का भी प्रयास साहित्य में हुआ। वैज्ञानिकता आई और मानवतावाद के समर्थन में कई संस्थाओं ने प्रयास किया। आर्य समाज, रामकृष्ण परमहंस मिशन, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज आदि संस्थाओं ने समय एवं समाज के अनुरूप धर्म को उपयोगी बनाया। आशय यह कि आधुनिक काल के उदय की पृष्ठभूमि में उपर्युक्त परिस्थितियाँ महत्त्वपूर्ण रही हैं।

इस संदर्भ में एक और बात का उल्लेख करना आवश्यक है 1857 का स्वाधीनता संग्राम। यह केवल कारतूसों में निषिद्ध चर्बी के प्रयोग को लेकर कुछ सिपाहियों का विद्रोह न था। अंगरेज राज की समाप्ति के लिए यह एक जनक्रांति था। बहादुर शाह जफर, लक्ष्मीबाई, अमर सिंह, तांत्या टोपे आदि के बलिदान से पराधीन भारतीय जनता ने प्रेरणा ली। वह उद्‌बुद्ध हुई। मंगल पांडे का विद्रोह सामने आया। उसने तीन अंगरेज सेनाधिकारियों को गोली मारकर हत्या कर दी। मंगल पांडे को फाँसी पर चढ़ाया गया। परंतु स्वाधीनता संग्राम को बल मिला। स्वतंत्रता की प्राप्ति की कामना बलवती हुई। तत्कालीन रचनाकारों ने इस घटना

से प्रेरणा लेते हुए स्वाधीनता संग्राम को रचना का विषय बनाया। हिंदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने नाटक 'भारत दुर्दशा' (1875) में रेल, डाक-तार, सड़क आदि भौतिक सुविधाओं के लिए 'सुख-साज' कहकर व्यंग्य किया तो भारत के आर्थिक शोषण, चुंगी की पीड़ा आदि का मर्मस्पर्शी चित्रण करते हुए उल्लेख किया है –

'रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।
अंगरेज राज सुखसाज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अजि ख्वारी।।
ताहू पै महँगी, काल, रोज बिस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हारी।।
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।'

आधुनिक हिंदी कविता की यात्रा को कभी आदर्शवाद ने प्रभावित किया तो कभी अस्तित्ववाद ने। कभी यह अतियथार्थवाद से प्रभावित हुई तो कभी मानवतावादी विचारधारा से। मार्क्सवादी विचारधारा, समाजवाद एवं साम्यवाद, प्रतीकवाद और बिंबवाद आदि से भी आधुनिक हिंदी कविता प्रभावित है। साथ ही, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण परमहंस मिशन, आर्य समाज, गांधीवादी विचारधारा आदि भारतीय जीवन दृष्टियाँ समावेशित हैं। भारतीय आधुनिक युग की वैचारिक पृष्ठभूमि में पाश्चात्य एवं भारतीय विचारों का भावनात्मक मिश्रण मिलता है। बुद्धि एवं हृदय के समन्वित मिश्रण से आधुनिक हिंदी कविता संपन्न है, समृद्ध हुई है।

आधुनिक काल में हिंदी के शताधिक कवि प्रसिद्ध हुए हैं। उन्होंने कविता के क्षेत्र में नए कीर्तिमान स्थापित किए हैं। इनमें से कुछ ही कवि-साहित्यकारों को इस पुस्तक में सम्मिलित किया गया है। वास्तव में अध्ययन-अध्यापन के दौरान कई विचार मन में उठते रहे। उन विचारों को सूत्रबद्ध करने का एक मामूली प्रयास किया गया है। कहीं-कहीं काव्योत्तर प्रसंग भी उठाए गए हैं जैसे नाटक, कहानी, उपन्यास, प्रयास यह रहा है कि कविता के अतिरिक्त कवि का युगीन संदर्भ किस रूप में उभर कर सामने आया है। अंतिम अध्याय में सांप्रदायिकता के संदर्भ को प्रेमचंद के साहित्य के माध्यम से रूपायित करने की कोशिश की गई है। यह लोगों को अनावश्यक प्रतीत हो सकता है। परंतु

सांप्रदायिकता की चपेट में आज पूरी दुनिया आ चुकी है। देश तो बँट ही रहा है, मनुष्य भी खंडित-विखंडित होता जा रहा है, अनास्था का भाव जोरों पर है तो अविश्वास और संदेह के घेरे में मनुष्य कुंठाग्रस्त हो रहा है। बाजारवादी अर्थ व्यवस्था के चलते मानवीयता कोरी साबित होने की कगार पर है। ऐसे में आस्था, विश्वास, शांति, मैत्री, सद्‌भाव की प्रतिष्ठा आज के समय की माँग है। संबंध टूट रहे हैं और रिश्ते बिखर रहे हैं। संवेदना छीज रही है। उसका क्षरण हो रहा है। बड़ी चिंता है – 'क्या हम मनुष्य बन कर रह पाएँगे?' इसलिए इस पुस्तक का अंतिम अध्याय समाप्ति का सूचक नहीं, अनावश्यक भी नहीं। यह एक नए प्रारंभ का निर्देशक है। अत: आवश्यक भी हैं।

इस पुस्तक में एक ओर कुछ महत्त्वपूर्ण कवियों के युगीन संदर्भों का उल्लेख है तो दूसरी ओर कुछ उल्लेखनीय कवियों की चर्चा नहीं हो पाई है। वास्तव में आधुनिक हिंदी काव्यधारा के सैकड़ों कवियों का उल्लेख करना एक ही पुस्तक में संभव भी नहीं है।

अनेक अधिकारी विद्वानों के सत्परामर्श, पुस्तकों एवं अन्य प्रकाशित सामग्रियों से इस पुस्तक का निर्माण संभव हो पाया है। उन सबके प्रति मेरी हार्दिक कृतज्ञता है। आधुनिक हिंदी कविता के प्रति जिज्ञासा भाव रखने वाले छात्रों और पाठकों को यदि किंचित्मात्र लाभ होता है तो अपना प्रयास सार्थक समझूँगा। अधिकारी विद्वानों के योग्य निर्देशों का स्वागत रहेगा।

मैथिलीशरण गुप्त (1886-1964 ई.) ने खड़ीबोली की उँगली पकड़कर उसे चलना सिखाया, बड़ा किया और काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में जिस खड़ी बोली के स्वरूप को निश्चित करने का प्रयास किया था, उसे मैथिलीशरण ने जन-मन में विराजमान कराने का स्तुत्य प्रयत्न किया। अपने काव्यों में खड़ी बोली को परिनिष्ठित रूप प्रदान किया। हिंदी काव्य-जगत में लंबी अवधि से चली आ रही काव्य-भाषा संबंधी ऊहापोह को समाप्त किया। भारत-भारती, स्वदेश-संगीत, वैतालिक, किसान, अजित हिंदू, पत्रावली, राजा-प्रजा, झंकार, मंगलघट, नहुष, शकुंतला, तिलोत्तमा, चंद्रहास, पंचवटी, साकेत, जयद्रथ-वध, त्रिपथगा, वकसंहार, वन-वैभव, सैरंध्री, द्वापर, जयभारत, यशोधरा, कुणाल, अनघ, सिद्धराज, विष्णुप्रिया, काबा और कर्बला, गुरुकुल, रंग में भंग, विकट भट, अर्जन और विसर्जन काव्य ग्रंथों से यह सिद्ध हो गया कि काव्य की भाषा होने में खड़ी बोली में तमाम सामर्थ्य मौजूद हैं। खड़ी बोली को काव्योपम भाषा सिद्ध करने में मैथिलीशरण की महती भूमिका रही है।

मैथिलीशरण गुप्त महावीर द्विवेदी की 'निर्मिति' थे। इसे गुप्तजी ने मुक्तकंठ से स्वीकार भी किया है –

'करते तुलसीदास भी, जैसे मानस-नाद?–
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद'

सन 1905 में 'सरस्वती' में गुप्तजी की पहली कविता 'हेमंत' प्रकाशित हुई। इसके पश्चात कवि के तीस से अधिक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। परंतु उनकी कीर्ति के आधारस्तंभ ग्रंथ भारत भारती, जयद्रथ वध, पंचवटी, द्वापर, यशोधरा, साकेत आदि हैं। इन ग्रंथों ने गुप्तजी को हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र में सर्वप्रिय बनाया। भक्तिकालीन कवि तुलसी की तरह गुप्तजी को महत्त्व मिला। निराला ने गुप्तजी को 'सुकवि' कहा है तो दिनकर ने 'पुनरुत्थान के कवि' और प्रभाकर श्रोत्रिय ने 'नव शास्त्रीय अथवा नव आभिजात्यवादी युग' के कवि के रूप में जानना चाहा है। हालाँकि कुछ आलोचक उन्हें हिंदू राष्ट्रवाद के गायक कवि, 'नेहरू-युग के सरकारी कवि गुप्त' 'अभिधा का कवि' कहकर गुप्तजी की महानता को कमतर आँकने का प्रयास करते हैं।

गुप्तजी का सृजनकाल एक लंबी अवधि का युग रहा है – सन 1905 से 1960 ई. तक। इस लंबी अवधि में राजनीतिक क्षेत्र में अनेक बदलाव आए। सामाजिक जगत में तमाम परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों की प्रतिक्रिया काव्य में भी हुई। बंधन की पीड़ा, मुक्ति के लिए लंबा संघर्ष, स्वतंत्रता प्राप्ति, स्वप्न भंग, निराशा की हार्दिक अनुभूतियाँ काव्य जगत में व्यक्त होती रहीं। विसंगतियाँ उत्पन्न हुईं। जन-जीवन में असंतोष व्याप्त रहा – आंतरिक और बाह्य रूपों में। जिस आजादी की उद्दाम कामना की गई थी उसने युग को अभिशप्त बना दिया। स्वतंत्रता की प्राप्ति के पूर्व तथा पश्चात की स्थिति में कोई अंतर नहीं आया। बस जॉन की जगह गोविंद आ गया।

गुप्तजी की रचना-प्रक्रिया के युग में छायावाद, प्रगतिवाद, नई कविता जैसे काव्य आंदोलनों ने रचनाकारों को प्रभावित किया। आदर्शवाद, गांधीवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद आदि विचारधाराओं ने रचनाकारों को आकृष्ट किया। पर गुप्तजी अपने विचारों से हटे नहीं। नए विचारों एवं परिवर्तनों से वे सदा असंपृक्त रहे। परंतु ऐसा न समझा जाए कि गुप्तजी इन साहित्यिक एवं सामाजिक परिवर्तनों से अनभिज्ञ थे। वे अपने चुने हुए मार्ग पर अचल रहे। यदा-कदा समकालीन विचारधारा से संबंधित रचनाएँ मिल जाती हैं परंतु अपनी आस्थाओं और निष्ठाओं को सँजोए रखने में उन्होंने कोई कसर नहीं होने दी।

गुप्तजी ने अपनी कविताओं के माध्यम से भारतीय संस्कृति और विश्वास को नव प्रकाश से मंडित किया। अंधविश्वास के बहिष्कार हेतु आग्रह किया। पारस्परिक कलह को त्यागकर उससे पीड़ित स्वदेश को एकता का संदेश दिया। देशभक्ति की भावना को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया। 'जयद्रथ वधश शीर्षक काव्य इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। एतद्पूर्व रचे गए 'शकुंतला' 'तिलोत्तमा' आदि में पुनरावृत्ति अवश्य है। परंतु प्राचीन कथानक पर विरचित परवर्ती काव्यों – 'साकेत' 'यशोधरा' आदि में नवीनता का सुंदर समन्वय करने में गुप्तजी को अभूतपूर्व सफलता मिली है। भारतीय संस्कृति में प्राचीन आदर्शों और आधुनिक कालीन नवीन विचारधाराओं के बीच सुंदर सामंजस्य 'साकेत' महाकाव्य में परिलक्षित होता है। भारत के दिव्य तथा भव्य अतीत गौरव के पुजारी गुप्तजी ने भारतीयों के मन में जमी निराशा को दूर करना चाहा। इसलिए अपने ग्रंथों में प्राचीन आदर्शों को आधुनिक विचारों से संपन्न किया। 'साकेत' में वे अपने कवि-कर्तव्य को भूल नहीं सके हैं। उन्होंने युग के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए युगीन भावनाओं को अभिव्यक्त किया है।

प्राचीन भारत के साथ राजतंत्र का अभिन्न संबंध रहा है। कवि का राजनीतिक शासन व्यवस्था के प्रति समर्थन मिलता है 'पंचवटी' में। परंतु 'साकेत' तक आते-आते गुप्तजी ने राजतंत्र की स्वैराचारिता का विरोध किया है तथा प्रजातंत्र का समर्थन करते हुए कहा है –

'राजा हम ने राम। तुम्हीं को है चुना
करो न तुम यों हाय। लोकमत अनसुना
जाओ, यदि जा सको रौंद हम को यहाँ
यों कह पथ में लेट गए बहुजन वहाँ।' (साकेत, पृ. 89)

शासक लोकमत की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसे निर्वाचित करने वाली जनता की इच्छा को पूरा करना उसका दायित्व बनता है। बहुजन की भावना का सम्मान करना शासक का कर्तव्य है। पौराणिक कथा का चित्रण इस रूप में प्रस्तुत है कि कवि का युगबोध साकार हो उठा है गांधी जी का सविनय अवज्ञा आंदोलन – 'माना यह कह रहा हो जाओ, यदि जा सको रौंद हम को यहाँ'

स्पष्ट है कि कवि ने प्राचीन को प्रेरणादायिनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। उसे नए युग के अनुरूप बनाने का प्रयास किया है। इस प्रयास में उन्होंने मानव मूल्यों की पुनर्स्थापना को लक्ष्य बनाया। अतीत और वर्तमान का सुभग समन्वय स्थापित करना चाहा। कवि ने देखा कि अपने समय में मानव

मूल्यों का क्षरण हो रहा है। स्वार्थ-लिप्सा के भँवर में मनुष्य फँसता जा रहा है। सूक्ष्मता, मानवीयता, दया, प्रेम, करुणा आदि गुण इतिहास के पन्नों में ही शोभा पाने लगते हैं तो कवि प्राण व्यथित हो ऐसी प्रतिकूल स्थिति पर विचार करने के लिए आग्रह करता है -

'हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी?
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।' (भारत-भारती)

भारतेंदु ने आग्रह किया था 'आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई।' परंतु अब रोने मात्र से समस्या का समाधान संभव नहीं था। रोने के बाद सँभलना है और शांत मस्तिष्क से समस्याओं पर विचार करना आवश्यक है। क्या हो गए हैं वर्तमान है तो उससे भी युगद्रष्टा की बड़ी चिंता है क्या होंगे। भारत-भारती के प्रणेता की आशंकाएँ आज के लिए भी कितनी प्रासंगिक हैं। भौतिक सुख-सुविधाओं से संपन्न आज का व्यक्ति केवल व्यक्ति बनकर ही रह गया है। वह मनुष्य नहीं बन पाया है। उसे मनुष्य बनने की कोई इच्छा भी नहीं है। गुप्तजी की यही दूरदर्शिता थी। इसलिए उन्होंने अतीत से प्रेरणा लेते हुए वर्तमान समस्याओं पर चिंतन-मनन करते हुए भविष्य को सुखद-सुंदर बनाने का आहवान स्वर सुनाया है। यह स्वर धीमा नहीं है, बल्कि प्रबल आस्था का सूचक है। तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उस स्वर में धीमापन न आना कवि के दृढ़-संकल्प का परिचायक है। यहाँ गुप्त जी अपने समकालीन रचनाकारों से अनन्य सिद्ध होते हैं। गिरकर भी सँभलना और दृढ़ इच्छा शक्ति के साथ फिर से सुखद अतीत को वर्तमान में अवतरित करना कवि गुप्त की काव्य-संवेदना में उभर कर आता है। तभी तो उनके 'जय भारत' में नहुष की उद्घोषणा सुनाई पड़ती है - 'फिर उठूँगा और बढ़कर रहूँगा मैं, नर हूँ, पुरुष हूँ, चढ़ता रहूँगा मैं।' गुप्त जी की इस दृढ़ आस्था ने राम के बहाने मानव की ईश्वरता को चित्रित किया है। 'साकेत' की कथा तो परंपरानुसार है। उसकी घटनाएँ भी मूलकथा के आधार पर चलती हैं परंतु कवि की व्याख्या युगानुकूल है। कवि की दृष्टि में नवीनता आई। उन्होंने युगीन माँग के अनुरूप राम का चित्रण किया। साम्राज्यवादी शक्ति की दासता से मुक्ति प्रदान करने के लिए किसी भगवान से बढ़कर युग-पुरुष की आवश्यकता थी। परम नैष्ठिक वैष्णव होते हुए भी गुप्तजी ने युग-पुरुष राम के मुँह से कहलवाया है -

'सुख-शांति हेतु मैं क्रांति मचाने आया
विश्वासी का विश्वास बचाने आया।

मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं
जो विवश, विफल, बलहीन, दीन, शापित हैं।' (साकेत, अष्टम सर्ग)

युग-पुरुष का यहाँ आगमन हुआ है न कि आविर्भाव। स्वयं दुख-कष्ट झेलकर लोगों को सुख पहुँचाने तथा 'मनुष्यत्व का नाट्य खेलने' आगमन हुआ है। लाचार, विवश, निर्बल, दीन-हीन, असहायों के लिए युग-पुरुष के रूप में राम को चित्रित किया गया है। वह निर्माता है न कि विध्वंसक। वह जोड़ने में विश्वास करता है न कि तोड़ने में या बाँटने में। स्वर्ग और कहीं नहीं बल्कि इस धराधाम में मौजूद है, इसलिए कवि का कथन है -

'नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया'

गुप्तजी के इस विचार को आगे चलकर दिनकर जी ने स्वर्ग को नकारा है और पृथ्वी को सर्वसंपन्न बताया है -

'ऊपर सब कुछ शून्य शून्य है
कुछ भी नहीं गगन में
धर्मराज, जो कुछ है वह
इस मिट्टी में जीवन में।' (कुरुक्षेत्र, छठा सर्ग)

गुप्तजी की रचनाओं में उनके भीतर के 'स्व' से अधिक युग को महत्त्व दिया गया है। समय का प्रभाव कहीं इतना गहरा था कि उससे मुख मोड़ना किसी भी जागरूक कलाकार के लिए असंभव था। पुनः जब सारे देश में स्वतंत्रता के मुक्त आकाश में 'वास लेने की बात चल रही हो। ऐसी स्थिति में उस देश का कवि जो युग और समाज का स्रष्टा होता है, यदि परिस्थितियों से मुख मोड़कर प्रेम और विरह के गाने गाए - तो वह अशोभन ही नहीं, समाज और साहित्य के लिए अभिशाप है। कोई भी साहित्य समाज की उपेक्षा करके नहीं जी सकता'।

कवि गुप्तजी ने समाज और राष्ट्र की कभी उपेक्षा नहीं की। उनके समय में एक ओर बाबू राजेंद्र प्रसाद जी का नारा था कि परतंत्र भारत में राजद्रोह पाप नहीं, पुण्य-कार्य होता है। इसे कवि ने मिथकीय कथा के सहारे प्रस्तुति करते हुए कहा है -

**'वह प्रलोभन हो किसी के हेतु
तो उचित है क्रांति का ही केतु।
दूर हो ममता, विषमता, मोह
आज मेरा धर्म राजद्रोह'**

यह प्रसंग है भरत के ननिहाल से वापस आने का और कथन है शत्रुहन का परंतु गुप्तजी ने उसे समयोचित प्रस्तुत किया है।

गुप्त जी राष्ट्र कवि के रूप में तो ख्यात हैं परंतु वे जातीय कवि भी हैं। हिंदी जाति के सबसे बड़े आख्याता हैं। समूची हिंदी भाषी जनता की मनोवृत्ति के ज्ञाता कवि ने किसानी सभ्यता का सुंदर चित्र अंकित किया है। कृषक ही सच्चा राज्य करते हैं। वे राज्य के लिए अन्न उत्पन्न करते हैं। अन्न ही जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। इस दृष्टि से किसान ही सबसे अधिक धनी कहलाने योग्य हैं। राजा अपनी पत्नियों का सच्चा प्रेम पाने में असमर्थ होते हैं। परंतु किसानों में सच्चा दांपत्य भाव होता है। वे अपनी पत्नियों के साथ आनंदपूर्वक अपने खेतों पर घूमते रहते हैं। संसार को ऐश्वर्य मंडित करते हैं। परंतु शासक वर्ग को वृथा दंभ होता है कि वे राजा हैं। राज्य के लिए आपस में संघर्ष एवं युद्ध करते रहते हैं। राज्य को ही सर्वस्व समझ लेते हैं। उचित–अनुचित पर ध्यान नहीं देते। उर्मिला कहती है – 'हम राज्य लिए मरते हैं।' (साकेत, नवम सर्ग)।

किसानों के कवि गुप्तजी ने राजाओं की तुलना में किसानों को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। किसान धनी हैं, दानी भी हैं। उनमें इतने गुण होते हैं कि यदि वे अपने जीवन पर गर्व भी करें तो अनुचित नहीं होगा। उनका जीवन हर्षपूर्ण एवं चिंताहीन होता है। कृषक–जीवन की महत्ता का वर्णन करती हुई उर्मिला कहती भी है कि यदि हम लोग भी कहीं किसान होते तो हममें भी कृषकों–जैसी त्याग भावना और सहिष्णुता होती और फिर इन सुखों का भोग नहीं कर पाते। अर्थात भोग से उत्पन्न कष्ट न सहने पड़ते। वे अन्नदाता हैं। हमारे दुख दूर करते हैं। वास्तव में उनके जीवन का अनुकरण–अनुसरण करना उचित है। परंतु हम राज्य की प्राप्ति के लिए उचित–अनुचित के ज्ञान से शून्य होते हैं – 'उन्हीं अन्नदाताओं के सुख आज दुख हरते हैं।' (साकेत, नवम सर्ग)

गुप्तजी की इस भावना को अयोध्या–राज्य में घटित होने वाली घटनाओं का संकेत मात्र नहीं है। उनके रचनाकाल में किसानों के प्रति युगपुरुषों की संवेदना भी प्रकट होती है। गांधीजी जैसे युगनायकों ने इस तथ्य को भली–भाँति हृदयंगम किया था कि भारतीय अर्थनीति का मेरुदंड किसान ही है। देश की संपन्नता लहलहाती फसल पर निर्भर करती है। देश की सुख–समृद्धि का आधार किसान वर्ग है। उनके जीवन में हर क्षण उल्लास भरा रहे और वे बारह महीनों में तेरह त्योहार मनाएँ तो देश की आर्थिक, सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था

सुखद हो सकती है। इस तरह से प्राचीन कथानकों अथवा मिथकीय घटनाओं के आधार पर कवि गुप्तजी ने अपने युग की बात कही है। अर्थात पौराणिक संदर्भों को युगीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। उनकी रचनाओं में स्वाधीनता-संग्राम की पद-ध्वनि ही सुनाई नहीं पड़ती बल्कि स्वतंत्रता को बचाए रखने के उपायों की भी खोज मिलती है। क्योंकि 'साकेतश 'यशोधरा' जैसे काव्यों में कवि की सबसे बड़ी समस्या जीवन है। उस जीवन की सार्थकता के लिए आवश्यक है मानवीयता। डॉ. नगेद्र के शब्दों में – 'हमारी सबसे बड़ी समस्या जीवन है और उससे परे अध्यात्म या धर्म इस युग में कोई अर्थ नहीं रखती। 'साकेत' की धार्मिक पृष्ठभूमि का ठीक यही स्वरूप है। उसमें भुक्ति और मुक्ति का सामंजस्य है, भावुकता और बुद्धि (इड़ा) का'।

राजधर्म में त्याग और लोकसेवा की भावना का प्राधान्य था। आज राजनीति ने राजधर्म का स्थान ले लिया है। इसमें भोग और स्व-सेवा को महत्त्व दिया गया। राजनीति कलुषित हो गई। स्वार्थ को ही परमार्थ समझा जाने लगा। राजनीति एक दूधारू गाय साबित हो गई है। गुप्त जी ने शत्रुघ्न से कहलवाया भी है –

"राज्य को यदि हम बना लें भोग
तो बनेगा वह प्रजा का रोग।"
(साकेत, सातवाँ सर्ग, पृ. 104)

आगे चलकर कवि ने कैकेयी को प्रतीक मानकर कहा है-

अनुज, उस राजत्व का हो अंत
हंत! जिस पर कैकेयी के अंत (साकेत, सातवाँ सर्ग, पृ. 105)

आज हमारे साँसद, विधायक, मंत्री रूपी राजाओं ने राज को भोग बना लिया है। फलतः चारों ओर अराजकता छाने लगी है। जनता के अधिकारों के रक्षक रक्षाकवच बनकर नहीं आते। वे भक्षक बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में कवि क्रांति को उचित मानता है – 'निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को।' परतंत्र भारत में प्राचीन संस्कृति को अक्षय बनाये रखने का कार्य गुप्तजी ने किया है। इस संदर्भ में डॉ. नगेंद्र ने कहा है – 'क्रांति के इस युग में प्राचीन संस्कृति के गौरव को अक्षय रखने का सबसे बड़ा दायित्व कवियों पर है और इस दायित्व को जिस कवि ने जितना पूरा किया उतना ही वह कवि भारतीय है। 'साकेत' का कवि ऐसा ही सर्वद्रष्टा भारतीय कवि है। उसकी सारग्राहिणी कवि-दृष्टि ने अपूर्व क्षमता के साथ संस्कृति के मूल तत्त्वों को पहचान कर उनकी प्रतिष्ठा की है। साथ ही स्वस्थ विदेशी प्रभावों का भी भारतीय आदर्शों से समन्वय किया है'।

द्विवेदी युगीन कविता पर सबसे बड़ा आरोप है उसका इतिवृत्तात्मक होना। इस आधार पर गुप्तजी के काव्यों को भी इतिवृत्तात्मक कह दिया जाता है क्योंकि महावीर प्रसाद द्विवेदी की सतत प्रेरणा से गुप्तजी ने अनके काव्य लिखे हैं। इसका कदापि यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि गुप्तजी में कवि-प्रतिभा का अभाव था। गुप्तजी बड़े कवि हैं, महान कवि हैं। पुराणों, मिथकों से अपने कथानक चुनने का यह मतलब नहीं कि इतिवृत्तात्मक कथन प्रस्तुत किए गए हैं। मूल बात तो यह है कि गुप्तजी ने अतीत के सुखद-सुभग आदर्श निचोड़कर ध्वस्त मूल्यों को फिर से पुनर्स्थापित करना चाहा है। उन्होंने इस प्रस्थापना में वर्तमान की आवश्यकताओं पर भी ध्यान दिया है। प्रभाकर श्रोत्रिय के शब्दों में—

'यह भ्रांत धारणा है कि मैथिलीशरण गुप्त और उनका युग इतिवृत्तात्मक है। वास्तव में यह नवशास्त्रीय अथवा नवअभिजात्यवादी युग है और गुप्तजी उसके अन्यतम कवि हैं। इतिवृत्तात्मकता शास्त्रीयता का एक लक्षण मात्र है। इसे युग का पर्याय मान लेने से खड़ी बोली हिंदी काव्य के सुसंगत और ऊर्ध्व विकास को अनिवार्य सरणि अनदेखी रह गई है'।

राष्ट्रकवि की द्रौपदी, उर्मिला, कैकेयी, यशोधरा, विष्णुप्रिया, सत्यभामा आदि स्त्रियाँ परंपरा से आगत हैं परंतु नई दृष्टि से पुनर्सृजित नारी चरित्र हैं। कवि ने आँख मूँदकर उक्त नारी पात्रों की पुनरावृत्ति नहीं की है। कवि के रचनाकाल में भारतीय नारी की शोचनीय दशा थी। उसकी असहनीय दुरावस्था से कवि प्राण व्यथित हो उठता है। सवाल यह उठता है कि नारी की ऐसी दशा का उत्तरदायित्व किस पर है? कवि ने इस पर विचार करते हुए कहा है।

ऐसी उपेक्षा नारियों की जब स्वयं हम कर रहे,
अपना किया अपराध उनके शीश पर हैं धर रहे। (भारत-भारती)

'भारत-भारती' में इस बात का भी जिक्र है कि पुरुषों ने नारियों की उपेक्षा ही नहीं की बल्कि नारियों को अशिक्षित, अपाहिज एवं पंगु बनाने में भी बड़ी भूमिका अदा की – 'हा! क्या करें वे, जबकि उनको मूर्ख रखते हैं हमीं।' नारी के प्रति समाज की दृष्टि में गुप्तजी की रचना के साथ परिवर्तन दिखाई पड़ता है। अन्यथा एतद्पूर्व नारी केवल कामिनी के रूप में चित्रित थी। वह पुरुष की काम-पिपासा को तृप्त करने वाली साधन मात्र थी। गुप्तजी ने महावीर प्रसाद द्विवेदी की संस्थापित मान्यताओं को अपने ढंग से काव्य जगत में उतारा था। द्विवेदी जी ने कहा था – 'यमुना किनारे केलि-कौतूहल का अद्‌भुत वर्णन बहुत

हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबंध लिखने की आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के गतागत पहेली बुझाने की' उक्त प्रेरणा बिंदु को पाथेय बनाते हुए गुप्तजी ने नारी पात्रों का चित्रण प्रस्तुत किया है। उन्होंने युगों से उपेक्षित नारी को दुख की स्थिति से उबारकर उसके स्वस्थ विकास की कामना की है। उन्हें ज्ञात है कि नारी दुखी रही है चाहे पत्नी हो, प्रेयसी हो या माता। हालाँकि नारी का त्याग, ममत्व, स्नेह, प्रेम सब कुछ अप्रतिम रहा है, अपरिमित भी। यह प्रेम और त्याग केवल अपने पति, पुत्र या प्रियतम के लिए नहीं बल्कि समाज, देश और मानवता के लिए भी समर्पित है। इस समर्पण के प्रतिदान में उसे कुछ नहीं बल्कि समाज, देश और मानवता के लिए भी समर्पित है। इस समर्पण के प्रतिदान में उसे कुछ नहीं चाहिए परंतु वह अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को चोट पहुँचते देखकर आहत होती है। उसे यह कदापि स्वीकार नहीं कि उसका व्यक्तित्व विघटित हो। नारी-विमर्श के दौर में गुप्तजी की यशोधरा कहीं पीछे पड़ती नहीं दिखाई पड़ती है। पति चाहे जहाँ जायें, जो करें पर गृह-त्याग करने के पहले पत्नी की सहमति प्राप्त कर लेनी चाहिए थी। कम से कम उसे कहकर जाते -

'सिद्धि हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात,
पर, चोरी-चोरी गए, यही बड़ा व्याघात,
सखि! वे मुझसे कहकर जाते
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?'

'साकेत' की उर्मिला को आत्म-सम्मान का बोध है। चित्रकूट में लक्ष्मण और उर्मिला का एकांत मिलन हुआ था। उस समय लक्ष्मण कुछ और ही सोच रहे थे, प्रकृतिस्थ न थे। तभी उर्मिला कहती है - 'मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी।' यशोधरा की भाँति उर्मिला भी प्रिय के व्रत में विघ्न न डाले बल्कि उनके निकट होकर भी उनसे दूर बनी रहे, उसकी व्यथा बनी रहे - 'प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ रहूँ निकट भी दूर।' उर्मिला हो या यशोधरा अथवा विष्णुप्रिया सभी अपार कष्ट सहन करती हैं। ये पत्नियाँ गुप्तजी के नारी-विमर्श का उदाहरण बनती हैं। रेडिकल फेमिनिज्म भले ही गुप्त जी की रचनाओं में न हो परंतु उनकी नारी आदर्श भूमिका में खरी उतरती है। उसमें पुरुष के अन्याय के विरुद्ध विद्रोह की चेतना भले न हो परंतु नारी-उत्थान में उसकी भूमिका अवश्य है, गुप्तजी की युगीन समस्याओं, स्थितियों और सीमाओं को यदि ध्यान दिया जाए तो, 'सखि वे मुझसे कहकर जाते' की व्यंजना युगांतरकारी सिद्ध हो जाती है। स्त्री-उत्पीड़न को कविवर ने मौन-वाणी प्रदान की है। वास्तव में

नवजागरणकालीन इस प्रवृत्ति को गुप्तजी ने सबसे पहले रेखांकित किया है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में – 'गुप्तजी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है – कालानुसरण की क्षमता।' इस क्षमता के कारण अज्ञेय जी उन्हें अपना काव्यगुरु घोषित करते हैं और हिंदी भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि के रूप में जानना चाहते हैं।

गुप्तजी ने आदर्श नारी की कल्पना क्यों की? इसके पीछे उनका क्या उद्देश्य हो सकता है? प्राचीन मूल्यों एवं आदर्शों से बँधी नारी को आधुनिकीकरण की आवश्यकता क्यों महसूस हुई? स्वस्थ दांपत्य जीवन, पारस्परिक सौहार्द्र एवं विश्वास सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का स्वस्थ आधार होता है। कवि ने नारी-संवेदन, नारी-अस्मिता के प्रसंगों से नारी की शक्ति को पहचानने की परंपरा शुरू की। नारी शक्ति के बिना पराधीन भारत का मुक्ति संग्राम सफल नहीं हो सकती है। इसे मैथिलीशरण गुप्त भली-भाँति समझते थे। संघर्ष हेतु शक्ति चाहिए और यह शक्ति आकाश से नहीं टपकती बल्कि नारी में विद्यमान होती है। इसलिए कवि ने प्रिया के चरणों में प्रियतम को गिराने में भी कोई संकोच नहीं किया। 'साकेत' में गुप्तजी ने ऐसी ही एक योजना निर्मित की है –

'गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया पगतल में
वह भीग उठी प्रिय चरण धरे दृग जल में'

गुप्तजी ने पत्नी, माता, सास, बहू आदि के रूप में नारी का चित्रण किया है। परंतु उनका सर्वाधिक मन रमा है नारी के पत्नी एवं माता रूप के चित्रण में। वह परिवार की धुरी है, वह लोक में देने आती है न कि लेने – 'नारी लेने नहीं, लोक में देने ही आती है।' माता एवं पत्नी दोनों रूपों में वह देती है। वह पुरुष की शक्ति है, वह पुत्र का आँचल है। 'यशोधरा' में कुछ नारी-शक्ति का महिमा-गान करते हैं – 'मुझको बचाया मातृभूमि ने ही खीर से।' यशोधरा का कथन है – 'मुझको बहुत उन्होंने माना – फिर भी क्या पूरा पहचाना। मैंने मुख्य उसी को जाना – जो वे मन में लाते।' नारी के प्रति गुप्तजी की दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए राममूर्ति त्रिपाठी ने कहा है – 'मानव हृदय में करुणा विश्वात्मा का ही एक अंश है और नारी मानो उसी की मूर्त प्रतिमा है, बाल्मीकि काव्य का यही करुणा मूल है और गुप्त जी ने उसी करुणा के मूर्त रूप गृहस्थाश्रम की धुरी नारी के चित्र उर्मिला, यशोधरा, नयिनी, विष्णुप्रिया तथा मघ-माँ के रूप में चित्रित किया है'।

गुप्त जी की नारी–दृष्टि में पुनरुत्थानवादी विचार का प्रभाव लक्षित होता है परंतु वह पुनरुत्थानवादी विचार तक सीमित नहीं है। गुप्तजी की नारी अनुराग एवं त्याग से परिपूर्ण है, कर्तव्यबोध से पूर्ण है। जड़–चेतन के प्रति समान रूप से उसकी संवेदना व्याप्त है। परंतु वह अपने अधिकारों के प्रति भी जागरूक है। वह अपने अधिकारों के लिए लड़ भी सकती है – 'स्वत्वों की भिक्षा कैसी ?' (साकेत) गुप्तजी ने पत्नी को अर्धांगिनी एवं संगिनी के रूप में भी चित्रित किया है, अर्धांगिनी रूप में अधिकार एवं कर्तव्य का समान रूप रहता है। इसलिए यशोधरा पति की सिद्धियों का कुछ अंश दावा करती है – 'उसमें मेरा भी कुछ होगा।' सीता स्वयं को राम की अर्धांगिनी कहकर अपना अधिकार जाहिर करती है राम को साथ ले चलने को बाध्य करती है। राम विवश हो जाते हैं इस तर्क के सामने कि माता–पिता के आदेश का पूर्ण पालन अर्धांगिनी के बिना अधूरा है।

यशोधरा और उर्मिला की स्थिति लगभग एक सी है। राज प्रासाद में रहकर भी संन्यासिनी जीवन व्यतीत करती है। दोनों विरहिणी हैं। यशोधरा के पति बिना कहे सिद्धि प्राप्ति हेतु चले गए तो लक्ष्मण भातृ–सेवा के लिए वनवासी हुए। फलतः दोनों पत्नियों को पति–प्रेम से वंचित होना पड़ा। विरह के दावानल में तिल–तिल दग्ध होना पड़ा। दोनों ने विरह को झेला, वीरता पूर्वक सहन किया। यशोधरा घर रहकर सिद्धार्थ की सफलता हेतु प्रार्थना करती रही। अपने आत्मीय स्वजनों को समझाती रही –

'उनकी सफलता मनाओ तात, मन से
सिद्धि लाभ करके वे लौटें शीघ्र वन से'

ठीक उसी प्रकार जब उर्मिला को लगता है कि लक्ष्मण बिना अवधि पूर्ण किए लौट आए हैं तो वह चौंक पड़ती है और कहती है –

'भूल अवधि–सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी आओ
किंतु कभी सोती सी उठती वह चौंक बोलकर जाओ'

वास्तव में 'आओ' और 'जाओ' का यह संघर्ष, आदर्श एवं कामना का भी है। आदर्श का प्रभाव है 'जाओ' तथा भावातिरेक का 'आओ' व्यष्टि एवं समष्टि के इस द्वंद्व को कवि ने स्वाभाविक ढंग से चित्रित किया है।

यशोधरा एवं उर्मिला का दृढ़–संकल्प देखते ही बनता है। तथागत के सार्थक प्रत्यावर्तन होने पर यशोधरा उनके पास नहीं जाती। तथागत आते हैं यशोधरा के पास। यशोधरा ने उसी स्थान पर पड़े रहना उचित समझा था जहाँ

पति उसे छोड़कर चले गए थे – 'गोपा वहीं है, छोड़कर उसको गए थे वे जहाँ।' बुद्ध को गोपा के संकल्प के सामने स्वीकार करना पड़ा।

'मानिनी! मान तजो, लो रही तुम्हारी बान।' (यशोधरा)

नारी-स्वाभिमान का ऐसा अपूर्व निदर्शन 'साकेत' की उर्मिला में भी लक्षित होता है, उसमें यशोधरा की भाँति कहीं भी हीन-भावना नहीं है। उसे दया दंड से भी भारी प्रतीत होती है। वह कहती है –

दयिता क्या मुझे आर्त जान के,
घर दिया तुम्हें भेज आप ही,
यह हुआ मुझे और ताप ही।

(साकेत)

'साकेत' में सीता का कथन भी इस संदर्भ में स्मरणीय है जिसमें शिष्टाचार के साथ नारी-स्वाभिमान व्यंजित है –

जो गौरव लेकर स्वामी
होते हो काननगामी,
उसमें अर्द्ध भाव मेरा
करो न आज त्याग मेरा।

(साकेत)

'विष्णुप्रिया' में गुप्तजी ने विवश, पीड़ित, अत्याचारित विष्णुप्रिया के बहाने नारी के प्रति सहानुभूति प्रकट की है। साथ ही, भावी संकेत भी प्रदान किया है कि नारी जागरण में बाधक तत्त्वों के विरुद्ध सन्निकट है। विधृता के पति कृष्ण के रास में सम्मिलित होने के लिए विधृता को अनुमति प्रदान नहीं करते तो कवि ने 'द्वापर' में अपनी नारी-दृष्टि का परिचय दिया है जिसे दिनकर जी ने बड़े ही नवीन एवं कुछ दूर तक, विद्रोही भी कहा है। विधृता की आत्मा अपने पति को फटकार लगाते हुए कहती है –

अविश्वास, हाँ अविश्वास ही नारी के प्रति नर का,
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं, स्वामी है वह घर का
उपजा किंतु, अविश्वासी नर हाय, तुझी से नारी
जाया होकर भी जननी है तू ही पाप-पिटारी।
जाती हूँ, जाती हूँ मैं और नहीं रुक सकती,
इस अन्याय समक्ष मरु मैं, कभी नहीं झुक सकती।

(द्वापर)

गुप्त जी की नारी कायर नहीं है। डरपोक भी नहीं है। उसने अपने क्षत्राणी रूप का परिचय दिया है। आवश्यकता पड़ने पर युद्ध-क्षेत्र में सहर्ष चलने के लिए कटिबद्ध दिखाई पड़ती है। वह कहती है – 'पुरुष वेष में साथ चलूँगी मैं भी प्यारे।' उर्मिला को भी गुप्तजी ने केवल प्रेम की प्रतिमूर्ति, विरहार्णव, पतिव्रता नारी के रूप में ही नहीं दिखाया है बल्कि उसे क्षत्राणी रूप में भी चित्रित किया है, सुयोग को वह अपने हाथ से गँवाना नहीं जानती। उसे जब रणांगन में अवतीर्ण होने का मौका मिलता है वह कहती है – 'वीरों पर यह योग भला क्यों खोऊँगी मैं'

गुप्तजी ने माता के रूप में नारी के वात्सल्यमयी तथा तेजस्वी दोनों पक्षों को प्रस्तुत किया है। यशोधरा ने पति की अनुपस्थिति में अपने पुत्र को संस्कार दिया, समुचित शिक्षा दी। विरह एवं कर्तव्य के द्वंद्व में रहने के बावजूद मातृत्व की परीक्षा में उसे सफलता हासिल होती है। पति विहीन पत्नी के लिए पुत्र ही सर्वस्व होता है। यशोधरा के लिए राहुल, कैकेयी के लिए भरत ऐसे ही दृष्टांत हैं। मैथिलीशरण ने कैकेयी चरित्र का पुनर्सृजन किया है। अपनी अद्भुत मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। कलंकित कैकेयी चरित्र को कवि ने आदरणीया माता के रूप में चित्रित किया है। 'साकेत' के अष्टम सर्ग में माता कैकेयी की आत्मग्लानि है। मातृत्व की पराकाष्ठा है। अपने किए कुकर्म की स्वीकारोक्ति से उसका चरित्र कुंद हो उठा है। वह तमाम दोष अपने सिर पर धारण कर लेते हुए कहती है –

'क्या कर सकती थी, मरी मंथरा दासी
मेरा ही मन रह न सका निज विश्वासी'

वह मातृत्व के सामने सब कुछ फीका मानती है। मातृत्व खोना नहीं चाहती है। यही उसका गर्व है, दंभ नहीं। परंतु कैकेयी का स्वाभिमान दृष्टव्य है। गुप्त जी के रचना काल में उक्त नारी-स्वाभिमान की अत्यंत आवश्यकता थी। गुप्त जी ने कैकेयी से कहलवाया है –

'सह सकती हूँ चिर नरक, सुनें सुविचारी
पर मुझे स्वर्ग की दया दंड से भारी'

मातृत्व के प्रति गुप्त जी की अगाध श्रद्धा थी। उन्होंने कैकेयी में उस मातृत्व की खोज की। गांधी युग में रचित इस काव्य में एक ओर मातृ-शक्ति की प्रतिष्ठा है तो दूसरी ओर पाप से घृणा हो, पापी से नहीं विचार की स्थापना की है।

जयसिंह की माँ मीनल दे हो अथवा कौशल्या, कैकेयी हो या विधृता, उर्मिला हो या विष्णुप्रिया, यशोधरा हो या माताभूमि ये सभी नारी पात्र गतिशील हैं, युगानुकूल हैं, स्टेटिक नहीं, इस संदर्भ में गुप्त साहित्य के समर्थ अध्येता एवं प्रसिद्ध आलोचक प्रभाकर श्रोत्रिय ने कहा भी है - 'आज से कई आध-पौन शती पहले गुप्तजी ने बिना स्त्री-आंदोलन का तमाशा खड़ा किए, बिना किसी शोर के अपने युग-चरित्र के अनुरूप स्त्री-सशक्तिकरण की दिशा का जो ऐतिहासिक योगदान दिया, वह उनके विभिन्न काव्यों की अंतर्वस्तु और छोटे-छोटे चरित्रों में किसी आग और विकलता को देखने पर पता चलता है, कुछ प्रसंग और चरित्र तो ऐसे हैं जो स्वयं उनके अंतर्विरोधों का प्रतिकार करते हैं। वह लेखक के निरंतर आत्ममंथन और गतिशीलता का प्रमाण भी है, जो गुप्तजी के किसी अतीत पोषी स्थिरीकरण का स्वयं ही प्रत्याख्यान करता है'।

गुप्तजी ने अपने युग को कभी नहीं भुलाया। वर्तमान की उपेक्षा नहीं की। अपने सपनों और सुखों को देखकर देश को न भूलना उनके अंदर तथा बाहर का व्यक्ति था। सच्चा कलाकार अपने जीवनानुभवों और साधनों के बीच ऐक्य स्थापित करता है। गुप्तजी ने भी अपने संस्कार एवं आदर्श मानव के सपनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। संभवतः इसलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है - 'गुप्त जी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले अथवा मद में झूमने वाले कवि नहीं, सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह, दोनों इनमें हैं'।

भारतीय जनता और संस्कृति के आत्म-संघर्ष की अभिव्यक्ति को गुप्तजी ने अपने अर्धशताब्दी से अधिक रचना काल में वाणी दी है। यह अभिव्यक्ति सदा ही नया अर्थ प्राप्त करती है। समयानुकूल, युगानुकूल संदर्भ के साथ प्रकट होती है। गुप्तजी के रचना-संसार में युगीन समस्याएँ, मर्यादाएँ, शंकाएँ बार-बार उमड़ती घुमड़ती हैं। उन्होंने अपने युग की युगीन समस्याओं, उलझनों, शंकाओं, सवालों से पीछा छुड़ाना नहीं चाहा। वे उनसे उलझे रहे। उनका मंथन करते रहे और अपने ढंग से निराकरण के उपाय भी सोचते रहे।

पराधीन भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं सामंतवाद से भारतीय जनता का संघर्ष था। निहत्थे भारतीयों के लिए अस्त्र-शस्त्रों की आवश्यकता थी। मैथिलीशरण ने भारतीयों को प्राचीन मूल्यों की रक्षा एवं नए मूल्यों के धारण हेतु आग्रह किया। पराजित मनोवृत्ति को त्यागकर प्राचीन संस्कृति

एवं इतिहास से शिक्षा ग्रहण करने के लिए आ]वान किया। गुप्तजी ने इसके माध्यम से भारतीयों को साम्राज्यवादी शक्ति से लड़ने का साहस जुटाया। गुप्तजी के काव्य-मूल्य धारदार औजार सिद्ध होने में सहायक हुए। साहित्य, इतिहास, कला, दर्शन, शास्त्र पुराण आदि में अंतर्निहित शक्ति को पहचानने के लिए कवि का काव्य-जगत प्रबल सहायक सिद्ध हुआ। इस पहचान ने सांप्रदायिकता को, उसके विषैले वातावरण को लोगों के सामने उजागर किया। सांप्रदायिक ताकतों को बढ़ावा देने वालों के मुखौटे उघाड़ दिये। हिंदू-मुस्लिम एकता की भावना मजबूत हुई। कवि ने सांप्रदायिकता की भावना को त्यागने के लिए 'गुरुकुल' में आगाह किया-

'हिंदू मुसलमान दोनों अब छोड़ें वह विग्रह की नीति
प्रकट की गई है, यह केवल अपने वीरों के प्रति प्रीति'

गुप्तजी को वैष्णव कवि मात्र सिद्ध करने के लिए जुटे आलोचकों को 'काबा और कर्बला' की निम्न पंक्तियाँ क्यों दिखाई नहीं पड़तीं-

'बैरी हो वा बंधु, विचारो तुम विवेक से
एक ईश के अखिल जीवन आत्मीय एक से'

राम, कृष्ण, बुद्ध, मुहम्मद की कथा को आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत करते हुए कवि ने सांप्रदायिक सौहार्द्र एवं सद्भाव का निदर्शन प्रस्तुत किया है। उन्होंने संपूर्ण निष्ठा के साथ अपने कवि-कर्म का निर्वाह किया है। पौराणिक एवं ऐतिहासिक प्रसंगों का सहारा लेते हुए युगीन अत्याचार एवं अन्याय का विरोध किया है। उस अन्याय के प्रतिकार के लिए उन्होंने प्रयास किया है। उन्होंने अपनी सारस्वत साधना से युग को साकार किया। उससे भी बढ़कर युग का प्रवर्तन किया। नर रूपी नारायण की खोज की। कृष्णदत्त पालीवाल के शब्दों में - 'राम, कृष्ण और मुहम्मद की प्रेरणा एकाकार होकर समग्र भारतीय संस्कृति को झंकृत कर देती है। हिंदुत्व का प्रभाव समाप्त हो जाता है और कवि, मानव मात्र की करुणा-वंदना का गायक बन जाता है।.. कला के उदात्त क्षणों में वे हिंदू कवि नहीं रह जाते, विश्व राग के मानवतावादी कवि बनते जाते हैं'।

गुप्तजी की रचनाओं में उनका युग जीवित है। उन्होंने अपने युग की तमाम घटनाओं का साक्षात्कार किया है। उन्होंने घटनाओं का आत्म-साक्षात्कार किया और समाज से जीवित प्रतीक प्राप्त किए। यही कारण है कि उनके काव्यों में लोक-मंगल तथा लोक-जागरण दोनों विद्यमान हैं। युगीन विसंगतियों को नैतिक और आदर्श के गुणों के अंतर्गत समाहित करते हुए समाज के यथार्थ चित्र उकेरे

गए हैं। राष्ट्रीय जागरण, सांस्कृतिक जागृति, राजनीतिक सचेतनशीलता आदि को उन्होंने अपने काव्य-सृजन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उक्त गहन कार्य को संपन्न करने के लिए कवि ने कथा-शैली अपनाई। अपनी भाषा की सहजता एवं संप्रेषणीयता के चलते उनके काव्य जन-मन के कंठहार बन गए। गृहिणियों से लेकर विद्वज्जनों तक गुप्तजी के काव्य-रसिक हो गए। सहज शब्दों में बड़ी बात कह देना कवि की सबसे बड़ी विशेषता थी। इसलिए गुप्तजी हिंदी साहित्य के लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध कवि हैं। 'भारत भारती' ने जो लोकप्रियता और प्रसिद्धि प्राप्त की उसमें उत्तरोत्तर विकास होता गया। खड़ी बोली के लाखों पाठक निर्मित हुए। संभवतः इसी कारण से गुप्तजी को आधुनिक हिंदी कविता के संस्कारक और निर्माता कहा जाता है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद का जो स्थान है खड़ी बोली काव्य में मैथिलीशरण गुप्त को वही स्थान प्राप्त है।

गुप्तजी मानव मूल्य के कवि हैं। उनके मानव-मूल्य में सांस्कृतिक, नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक मूल्य समाहित हैं। मानवतावादी दृष्टि सर्वोपरि होने के कारण उनकी रचनाएँ भारतीय जनता की कंठहार बनीं। उनकी रचनाओं ने मानव चेतना का संस्कार किया। प्रेम, भाईचारा एवं मैत्री का प्रचार किया। मनुष्य मात्र को जागरण का संदेश देते हुए उनके काव्यों ने मनुष्य जाति को नई दिशा दी। उन्होंने एकता में शक्ति की चेतना को अभिव्यक्त किया। इसलिए कभी अज्ञेय जी ने इन्हें संवेदना से अधिक मानव मूल्य का कवि माना था। गुप्त जी ने मनुष्य में ईश्वरता का बोध कराया। मानव-भूमि पर स्वर्ग लोक को प्रतिष्ठित करना चाहा। उन्होंने लोक में परलोक को उतारने का प्रयास किया। एक बात और, अनास्था के इस अंधकार युग में, अविश्वास के काले वातावरण में, हिंसा के खूनी परिवेश में, कृत्रिमता के पाखंड समय में गुप्तजी की रचनाएँ आस्था, विश्वास, अहिंसा का मंत्रपाठ कराती हैं। हमें उज्जीवित करती हैं, आस्थावान बनाती हैं-

'बीती नहीं यद्यपि अभी तक है निराशा की निशा
है, किंतु आशा भी कि होगी दीप्ति फिर प्राची दिशा'

साहित्यकार कालजयी होता है। उसे युग-प्रवर्तक भी कहा जाता है, क्योंकि उसकी रचना किसी भी सीमित दायरे में बंध कर नहीं रहती, वह शाश्वत व चिरंतन हो जाती है। जब साहित्यकार अपने युग-जीवन के साथ निष्ठापूर्वक जुड़ता है, तो वह सच्चे अर्थ में मानव-जीवन का रचयिता होता है, तभी वह युग-युग तक मानव-जाति के लिए अनजाने में संदेश देता रहता है। इसी प्रकार

महान साहित्यकार जयशंकर प्रसाद की रचनाएँ भी हमें इसी रूप में संदेश प्रदान करती हैं। 'युद्धंदेहि' के वातावरण में प्रेम का मूलस्वर सुनाती हैं।

सांप्रदायिकता की भयावहता हृदय में अनुभव करता हुआ आज का मानव स्वयं अपनी अक्षमता, असामर्थ्य और अपारगता महसूस करता है। भौतिकवादी समाज में वह अत्यधिक जर्जरित एवं कुण्ठित हो जाता है। मानव-जीवन में निस्संगता और विच्छिन्नता दिखाई पड़ती है। कंप्यूटर-युग का आत्मकेंद्रित मानव भौतिक जीवन के पीछे दिन-रात भागता फिरता है, जिससे वह अपने जीवन के अत्यंत भयावह संकट का कारण बन गया है। वह अहरह अपने स्वार्थ-साधन को ही प्राथमिकता देता है। अपनी संपत्ति, प्रतिपत्ति, सुख, वैभव इत्यादि की उन्नति में सतत प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार मनुष्य दुख पारावार की ओर दौड़ लगा रहा है। वह यंत्रणा से दग्धीभूत है। लेकिन उसकी ओर करुणाभरी दृष्टि से देखने वाला कोई नहीं है। वह अकेला, संगहीन और हतभाग्य महसूस करता है। ऐसे पराजयोन्मुखी मनुष्य से देश-सेवा की क्या अपेक्षा की जा सकती है? भयानक विच्छिन्नताबोध और संदेह की स्थिति में व्यक्ति अपने आप से भी प्रेम नहीं करता है, तो देश से प्रेम कैसे करे? ऐसी स्थिति में प्रसाद-साहित्य में व्यक्त देश-प्रेम और उसकी प्रासंगिकता विचारणीय हो जाती है।

प्रसाद जी का रचनाकाल सन 1905 ई. से सन 1937 ई. तक व्याप्त है। वास्तव में ये वर्ष भारतीय जनता के राष्ट्रीय, सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ से संबंधित हैं। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की पवित्र गंगा, देश की प्रत्येक दिशा में प्रवाहित हो रही थी, जिसका पवित्र जल प्रसाद के अंतःस्थल तक पहुँचा। अंग्रेजों ने न केवल भारतीयों पर अपना शासन लागू किया, अपितु भारतीयों के इतिहास और सांस्कृतिक परंपरा का अवमूल्यन करने का भी प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति में नवउत्साह, नवीन प्रेरणा और नई ऊर्जा प्रदान करने के लिए प्रसाद जी ने अपने साहित्य-सृजन के द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम काल को जीवित करने का प्रयत्न किया। इतिहास की गौरवमंडित कथाओं को चुनकर प्रसाद जी ने इतिहास और संस्कृति का सुभग समन्वय किया। इससे तत्कालीन जन-जीवन में जहाँ एक ओर नव-प्राण का संचार हुआ, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रीय भावना का स्रोत भी प्रवाहित हुआ। देश के स्वतंत्रता-आंदोलन में सहभागी बनकर लड़ना सम्मान और गौरव का विषय माना गया।

1912 ई. में लिखित प्रसाद के नाटक 'कल्याणी परिणय' में भारत की जयध्वनि सुनाई पड़ती है। सिंधु-तट पर समवेत चंद्रगुप्त की सेना गाती है –

जय-जय-जय आदि-भूमि, जय-जय-जय भारत-भूमि।
जय-जय-जय जन्म-भूमि, अपने सम प्यारी।।
हिम गिरि सम धीर रहे, सिंधु सम गंभीर रहे
जननी व्रतधारी।।

'प्रायश्चित' (ई. 1914) में राजपूत इतिहास के विरुद्ध मुहम्मद गोरी की सहायता करने वाले देशद्रोही जयचंद के प्रायश्चित की कथा है। आज भारत की एकता एवं अखंडता को खतरे में डालने वाले देश-द्रोहियों को भी जयचंद की नाई वक्त रहते प्रायश्चित करने की आवश्यकता है।

'अजातशत्रु' (ई. 1922) प्रसाद जी का एक अति महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नाटक है। इसमें नाटककार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि नाटक के छोटे से पात्र के चरित्र में भी देश-प्रेम की भावना पाई जाती है। गौतम बुद्ध के प्रतिद्वंद्वी देवदत्त और उनके शिष्य समुद्रदत्त की छल-कपट पूर्ण बातें मगध का राजवैद्य जीवक सुन लेता है और उनका विरोध करते हुए कहता है - 'संघ भेद करके आपने नियम तोड़ा है, उसी तरह राष्ट्र-भेद करके क्या देश का नाश कराना चाहते हैं'। आज के संदर्भ में देश के विघटनकारी तत्त्वों को सामान्य राज-सेवक जीवक कितना बड़ा संदेश देता है। आगे चलकर देवदत्त की धमकी के बावजूद उसकी साहसिकता तथा देशभक्ति अविचलित रहती है। वह कहता है - 'मैं ऐसा डरपोक नहीं हूँ कि जो बात मुझसे कहनी है, उसे मैं दूसरों से कहूँ। मैं भी राजकुल का प्राचीन सेवक हूँ। तुम लोगों की यह कूट-मंत्रणा अच्छी तरह समझ रहा हूँ'। मगध की प्रजा के लिए राष्ट्र ही सर्वोपरि है। यदि ऐसी भावना हम सबमें आ जाए, तो देश की एकता शायद ही संकट में पड़े। राष्ट्र के कल्याण हेतु समस्त मगधवासी प्राण तक विसर्जन करने के लिए वचनबद्ध हैं - 'राष्ट्र के कल्याण के लिए प्राण तक विसर्जन किया जा सकता है, और हम सब ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं'।

'जनमेजय का नागयज्ञ' (1926ई.) में प्रसाद जी ने मनसा एवं उसकी दो सखियों से राष्ट्रगीत प्रस्तुत करवाया है। देश-प्रेम के प्रवाह में वे इस प्रकार बहती हैं कि सुप्त जनता को जागरण का संदेश पहुँचाती हैं। जनमेजय तथा अन्य पात्रों के माध्यम से लेखक ने आर्य-भूमि तथा आर्य-जाति के लिए अभिमान की भावना जगाई है, जिससे आज के हताश, उदास, दुखी, क्लांत भारतीय नवउत्साह एवं नई प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं।

प्रसाद की बहुचर्चित नाट्यकृति 'स्कंदगुप्त' (1928 ई.) में मातृगुप्त भारत के दिव्य भव्य अतीत का गीत गाता है। वह भारतीय सेना में अपूर्व साहस एवं उत्साह भर देता है, जिसमें देश के लिए समर्पित हो जाने की भावना पाई जाती है –

'जिएँ तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।'

उपर्युक्त नाटक में हूण आक्रमणकारी खिंगिल को युद्ध–क्षेत्र में पराजित करने के उद्देश्य से नाट्य–नायक स्कंदगुप्त भटार्क से कहता है – 'आज इस रणभूमि में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्म–भूमि की दुर्दशा न हो'। प्रस्तुत कृति में निष्प्रभ, निस्तेज, निस्सहाय स्कंदगुप्त से कमला जो उद्बोधन देती है, आज के लिए वह कितना प्रासंगिक प्रतीत होता है – 'उठो स्कंद। आसुरी वृत्तियों का नाश करो। सोने वालों को जगाओ और रोने वालों को हँसाओ। आर्यावर्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य–पताका के नीचे समग्र विश्व होगा'। नाटककार ने स्कंदगुप्त के माध्यम से यह कहा है कि जननी और जन्म–भूमि की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले सपूतों का ऋण देशवासी कभी भी नहीं चुका सकते। हूणों के पराजयोपरांत स्कंदगुप्त का देवसेना से कथन उल्लेखनीय है – 'जननी–जन्मभूमि का उद्धार करने की जिस वीर की दृढ़ प्रतिज्ञा थी, जिसका ऋण कभी प्रतिशोध नहीं किया जा सकता, उसी वीर बंधुवर्मा की भगिनी मालवेश कुमारी देवसेना की क्या आज्ञा हैं?'

'चंद्रगुप्त' (1931 ई.) प्रसाद जी की अद्वितीय नाट्यकृति है। प्रसाद जी के पूर्व इस ऐतिहासिक वीर पुरुष पर अनेक कृतियों की रचना हो चुकी थीं। परंतु नाटककार ने एक नवीन दृष्टिकोण अपनाते हुए चंद्रगुप्त को आधुनिकता प्रदान की। प्रस्तुत नाटक में सिंधु नदी के तट ग्रीक शिविर में कार्नेलिया के गीत द्वारा प्रसाद ने देश–प्रेम से परिपूर्ण भावना प्रदर्शित की है, जो आज के साहित्यकारों एवं देशवासियों हेतु अनुकरणीय प्रतीत होती है –

'अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल–कुंकुम सारा।'।

'चंद्रगुप्त' की अलका–तक्षशिला की राजकुमारी राष्ट्र–सेविका है। वह भारतीय नारी की प्रतीक है, जो देश के लिए आत्मोत्सर्ग करने हेतु तत्पर रहती

है। जब यवन आक्रामक सिल्यूकस की विशाल सेना भारत पर आक्रमण करने के उद्देश्य से पश्चिमोत्तर सीमा पर पड़ाव डालती है, तो राजकुमारी अलका अपने देश के सैनिकों में उत्साहवर्द्धन तथा कर्तव्यबोध का भाव भरने के लिए और उत्साह भरे गीतों से न केवल अपने सैनिकों में प्राण फूँकती है, अपितु वह राष्ट्र में भी प्राण फूँकती है –

'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती –
अराति सैन्य सिंधु में – सुवाडवाग्नि से जलो
प्रवीर हो जयी बनो – बढ़े चलो, बढ़े चलो।'।

आज संपूर्ण देश में जातिवाद, प्रांतीयतावाद आदि से अनेकानेक समस्याएँ पनप रही हैं। इस संदर्भ में 'चंद्रगुप्त' का अधोलिखित उद्धरण हमें अब भी नव-संदेश प्रदान करने में समर्थ है – 'मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त है'। इससे प्रसाद जी राष्ट्र की अनिवार्यता को ही व्यंजित करते हैं'

प्रसाद जी ने नारी पात्रों के माध्यम से राष्ट्रीय-भावना को आर्य-संस्कृति की ठोस जमीन पर प्रस्तुत किया है। इस राष्ट्रीय-भावना के अंतर्गत एकता, त्याग और आत्मोत्सर्ग की भावना पाई जाती है। प्रसाद जी की कमला, रामा, जयमाला और अलका स्वेदशानुरागिनी नारियाँ हैं। अलका, मल्लिका जैसी नारियाँ आज के परिप्रेक्ष्य में पथ-भ्रष्ट युवकों तथा व्यक्तियों को अपनी कोमल एवं मधुर वाणी से सन्मार्ग पर अवतरित कर सकती है। आज नारी विभिन्न सामाजिक समस्याओं का शिकार बनती है। वह अपनी अस्मिता के लिए संघर्षशील है, फिर भी स्वार्थलोलुप समाज में कहीं उसे भोग्या मात्र माना गया है, तो कहीं उसका जीवन दग्ध होता है। अपनी शोचनीय दशा से उद्धार पाने हेतु रामगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी के कथन से नारी प्रेरणा प्राप्त कर सकती है – 'नहीं। मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु शीतलमणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी' संकटपूर्ण परिस्थितियों में भी नारी त्याग, एकता और आत्म-बलिदान की भावना से उत्प्रेरित होकर जन्मभूमि की रक्षा के लिए कटिबद्ध है।

आज धर्म के नाम पर गोलियाँ चलायी जा रही हैं, रक्त की गंगा बह रही है। वैमनस्य, अत्याचार और दंगा अटल एवं अचल रूप से विद्यमान हैं। प्रसाद-काव्य के वातावरण में भी इन आसुरी प्रवृत्तियों का प्राधान्य था। प्रसाद जी गहरे अनुभवी थे। अपने चारों ओर के वातावरण को उन्होंने अच्छे ढंग से पहचाना था। उन्होंने धर्म को नए संदर्भ में ग्रहण किया। इनके महान उदात्त पात्रों के लिए समग्र संसार में एक मात्र धर्म है - मानवधर्म। संपूर्ण विश्व को उन्होंने एकता के सूत्र मे बाँधने के लिए उपर्युक्त धर्म को ही अपनाया है। उपनिषदीय विचार से अनुप्राणित हो 'वसुधैव कुटुंबकम' को मूलमंत्र बनाया। 'अजातशत्रु' की मल्लिका प्रस्तुत कथन की सजीव मूर्ति है। आज के युग-संदर्भ में मल्लिका के कर्तव्य की प्रासंगिकता बनी हुई है। वह अपने वीर एवं साहसी पति सेनापति बंधुल के हत्यारे की सेवा करती है। प्रस्तुत नाटक में गौतम बुद्ध मानव मात्र की समानता पर बल देते हुए कहते हैं - 'राजन। क्यों दास-दासी मनुष्य नहीं हैं? क्या जीवन की वर्तमान स्थिति को देखकर प्राचीन अंधविश्वासों को, जो न जाने किस कारण होते आए हैं, तुम बदलने के लिए प्रस्तुत नहीं हो?'

वर्तमान युग में परोपकार, सेवा, दया, करुणा मानो स्वप्नवत हो गए हैं। आज भी संसार में असंख्य दुखी जीव हैं, जिन्हें हमारी सेवा की जरूरत है। यदि हम महात्मा बुद्ध के निम्न उपदेश को व्यावहारिक जीवन में ला सकें तो देश की अनेक समस्याएँ सुलझ सकती हैं - 'इस दुख समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया, तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अंदर विकसित होंगे, फिर तुमको परदुखकातरता में ही आनंद मिलेगा'।

अगर आज भी स्वार्थांध, धार्मिक पाखंडी लोग प्रसाद के इन पात्रों के आदर्श को भली-भाँति पहचान लें, तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि समग्र भारत में धार्मिक लड़ाई, सांप्रदायिक समस्या, प्रांतीयता आदि निर्मूल हो जाएँगी।

प्रसाद जी के कथा-साहित्य में भी देश-प्रेम का स्वर सुनाई पड़ता है। इस दृष्टि से प्रसाद जी की पुरस्कार कहानी उल्लेखनीय है। प्रस्तुत कहानी की नायिका मधूलिका अपने जनपद कोशल की स्वतंत्रता की रक्षा हेतु वैयक्तिक प्रेम की दिव्याहुति कर देती है। राजरानी बनने के प्रलोभन से भी उसका देश-प्रेम अडिग रहता है। 'गुंडा' एवं 'छोटा जादूगर' जैसी कहानियों में भी देश-प्रेम का स्वर ध्वनित होता है।

प्रसाद जी के काव्य 'लहर' (1933 ई.) की कुछ कविताओं में राष्ट्र-प्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। इस संदर्भ में 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण'

एवं 'पेशोला की प्रतिध्वनि' आदि कविताओं के नाम उल्लेख है। 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' कविता में राष्ट्रप्रेम, राष्ट्र-बलिदान, युद्ध-क्षेत्र में मृत्यु को ही विजय मानना आदि विचारों से साहित्य स्रष्टा ने देशवासियों को राष्ट्रीयता के मूलमंत्र से अभिसिंचित किया है। पराजित दशा में कवि ने अपने प्राचीन, दिव्य-भव्य, उदात्त गौरव की ओर ध्यानाकर्षित किया है। उन्होंने युद्ध में उस रण-रंगिनी तलवार को जीवन संगिनी के रूप में प्रस्तुत किया है-

'अरी रण-रंगिनी।
सिक्खों के शौर्य भरे जीवन की संगिनी।
कपिशा हुई थी लाल तेरा पानी पान कर।
दुर्मद दुरंत धर्म दस्युओं की त्रासिनी-
निकल, चली जा तू प्रतारणा के कर से'।

'पेशोला की प्रतिध्वनि' में महाराणा प्रताप के अंतिम समय का दृश्य उपस्थित किया है। कविवर प्रसाद जी ने महाराणा प्रताप के माध्यम से भारतीय गौरव का ऐतिहासिक दस्तावेज प्रस्तुत किया है। शौर्य, पराक्रम, त्याग और बलिदान देशवासियों के सम्मुख रखकर उन्हें जगाने का प्रयास किया है। प्रताप के देश पर आज संकट के बादल मंडरा रहे हैं। आज इस वीर-भूमि के चारों ओर स्तब्धता तथा शून्यता है। सर्वत्र संध्या के कलंक की कालिमा उतरी हुई है। पेशोला की उर्मियाँ शांत हैं। झोंपड़े विषाद के शिल्प से बने दग्ध अवसाद के सदृश खड़े हैं। प्रकृति भी शांत और उदास है। कवि प्रश्न करता है - अस्थि-माँस की दुर्बलता लेकर इस मेवाड़ में कौन ऐसा है, जो गर्वपूर्वक कह सके कि लोहे से ठोंक कर और वज्र से परख कर, पिशाचों की लीला को बिखेर कर, चूर-चूर कर देगा और उन्हें धूल सा उड़ा देगा। कवि पुनः प्रश्न करता है -

'आह, इस खेवा की।
कौन थामता है पतवार ऐसे अंधड़ में
अंधकार पारावार गहन नियति सा
उमड़ रहा है ज्योति रेखा हीन क्षुब्ध हो'।

आज के समस्या-जर्जरित भारत में महाकवि प्रसाद जी की उपर्युक्त पंक्तियाँ अत्यंत प्रासांगिक हैं, युगोपयोगी हैं।

प्रसाद जी ने जीवन के शाश्वत उपादानों को लेकर साहित्य का सृजन किया है। इसलिए उनकी कालजयी रचनाएँ युगों तक भारतीय जनता को मुक्ति

मार्ग प्रदर्शित करती रहेंगी। वास्तव में, प्रसाद–साहित्य के अध्ययनोपरांत मन की निराशाजनक, समस्त भावनाएँ स्वत: दूर हो जाती हैं और जीवन उन्नति एवं उल्लास की नई दिशा में अग्रसर होने के लिए सतत: प्रयत्नशील रहता है। प्रसाद जी का युगीन–संघर्ष तत्कालीन सीमा में मर्यादित नहीं था। अपितु आज के युगीन संघर्ष से भी जुड़ा हुआ है। राष्ट्रीय एकता, देश प्रेम आदि पर अधिकाधिक भाषण दिए गए हैं, पर इस संदर्भ में प्रसाद जी का साहित्य निराला है। उनकी रचनाएँ अप्रतिम हैं। प्रसाद–साहित्य की प्रासांगिकता थी, उसकी प्रासांगिकता है और भविष्य में भी रहेगी। प्रसाद–साहित्य के साथ मानसिक लगाव और साग्रह प्रस्तुत किए गए शताधिक शोध–प्रबंध एवं विचार–विमर्श उपर्युक्त कथन का द्योतक है।

छायावाद को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शैली की पद्धतिमात्र स्वीकारा है तो नंददुलारे वाजपेयी ने अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली के रूप में अपनाया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे रहस्यवाद के भुल–भुलैया में डाल दिया तो डॉ. नगेंद्र ने 'स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह' कहा। आलोचकों ने छायावाद की किसी न किसी प्रवृत्ति के आधार पर उसे जानने–समझने का प्रयास किया। छायावाद संबंधी विद्वानों की परिभाषाएँ या तो अधूरी हैं या एकांगी। इस संदर्भ में नामवर सिंह का छायावाद (1955) संबंधी ग्रंथ विशेष अर्थ रखता है। उन्होंने एक नए एंगल से छायावाद को देखा। उनके शब्दों में – 'छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से। इस जागरण में जिस तरह क्रमश: विकास होता गया, इसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी विकसित होती गई और इसके फलस्वरूप छायावाद संज्ञा का भी अर्थ विस्तार होता गया'। उपर्युक्त परिभाषा उस मान्यता को भी पूरी तरह बदलकर रख देती है जो यह मानने तथा प्रमाणित करने के लिए कमर तोड़ मेहनत करती है कि छायावाद प्रेम और वेदना का काव्य है। छायावाद का समय 1918 से 1936 ई. तक है। अर्थात छायावाद का उद्भव तथा विकास दो विश्वयुद्धों के बीच हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति एवं द्वितीय विश्वयुद्ध की प्रस्तुति के बीच हिंदी साहित्य में छायावाद का सृजन तथा पल्लवन हुआ। आलोच्य काल की सामाजिक परिस्थितियों पर ध्यान दें तो स्पष्ट पता चलता है कि समाज दो पाटों के बीच पीसा जा रहा था। एक ओर औपनिवेशिक परतंत्रता की जंजीर से भारतीय समाज आबद्ध था तो दूसरी ओर धार्मिक रूढ़ियों और वर्जनाओं से अधिकांश लोग घिरे हुए थे। तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को सामने रखा जाए तो गांधी जी के असहयोग

आंदोलन ने भारतीयों को उद्‌बुद्ध किया था। ऐसे समय में सृजित साहित्य में पलायनवादिता का स्वर भला कैसे उभर सकता है। इस युग के स्रष्टाओं ने अपनी रचनाओं में स्वप्नों को पूर्ण करने का प्रयास किया है। सामंती व्यवस्था से मुक्ति, धार्मिक कट्टरता का त्याग एवं साम्राज्यवादी शक्ति से मुक्ति - इन रचनाकारों के स्वप्न थे। स्वप्नों को साकार बनाने के लिए इन्हें बाहरी तथा भीतरी संघर्षों का सामना करना पड़ा। इन संघर्षों की अभिव्यक्ति छायावाद युग में हुई है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' में छायावाद को शक्तिकाल के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने छायावादी रचनाओं में ज्योति और जागरण की चेतना को रेखांकित किया है। उनकी मान्यता है - 'अपने व्यक्तिगत प्रणय और राष्ट्र-प्रेम की अनुभूति में और उनके संश्लेष में छायावाद मूलतः शक्ति काव्य है'।

नामवर सिंह तथा रामस्वरूप चतुर्वेदी ने आलोच्य काव्यधारा में जागरण पर बहुत अधिक महत्त्व दिया है। वास्तव में छायावादी कवियों ने सुप्त समाज को जागृत किया है। उन्होंने ओजस्वी स्वर में जागरण-गीत भी खूब लिखे हैं।

प्रसाद ने न केवल अपनी कविताओं में बल्कि अपने नाटकों - चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त में भी जातीय जागरण का प्रसार किया है। स्कंदगुप्त का प्रसिद्ध गीत 'हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार' आत्म-गौरव का ओजस्वी उद्‌बोधन है। प्रसाद की दृष्टि में भारत संस्कृति की जननी है। बुद्ध की अहिंसा, अशोक की करुणा आदि की प्रदात्री भारत भूमि ही है। संसृति में संस्कृति का प्रचार भारत द्वारा हुआ है। मातृगुप्त के द्वारा प्रस्तुत उद्‌बोधन गीत एक ओर हताश, उदास, निराश भारतीयों में नवीन स्फूर्ति उत्पन्न करता है तो दूसरी ओर भारत की दिव्य, भव्य एवं उदात्त परंपरा का प्रतीक बनकर आता है। भारतीय संस्कृति एवं उसकी ऐतिह्यमय परंपरा का निदर्शन भी प्रस्तुत होता है-

श्वही है रक्त, वही है देह, वही साहस है, वैसा ज्ञान
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान'।

श्पेशोला की प्रतिध्वनिश शीर्षक कविता में निर्धूम भस्मरहित ज्वलन पिंड के अरुण करुण बिंब का जो चित्रण किया है, वह अत्यंत प्रतीकात्मक है। यहाँ भी अस्तगामी सूर्य के बहाने कवि ने भारतीय अस्तगामी गौरवोज्ज्वल गाथा का प्रतिबिंब उकेरना चाहा है। परोक्ष रूप में भारतीयों को प्रेरित किया है। उन्हें जगाया है। जागरण का संदेश दिया है। तभी तो कवि चुनौती से भरपूर ललकार सुनाता है -

कौन लेगा भार यह? कौन विचलेगा नहीं।

प्रसाद जी के काव्य-संग्रह 'लहर' की 'बीती विभावरी जाग रीश। कविता को भले ही प्रभाकर श्रोत्रिय विशुद्ध प्रकृति-प्रेम आधारित कविता मानें, परंतु भारतीय परतंत्रकालीन उक्त कविता राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम की एक महत्त्वपूर्ण कविता मानी जा सकती है। यह भी एक जागरण गीत है। सखी (आली) के बहाने जातीय जागरण का प्रसार किया गया है। 'अब जागो जीवन के प्रभात' 'अपलक जगती रहो एक रात' 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' आदि अनेक कविताओं के माध्यम से कवि ने शक्ति का आवाहन किया है। वैयक्तिक प्रेम के साथ राष्ट्र-जागरण के भाव को कवि ने समन्वित रूप प्रदान किया है। कवि प्रसाद की मान्यता है कि मनुष्य मात्र में जागरण विद्यमान है। यह भाव सुषुप्तावस्था में है। चौतन्य एवं शक्ति के आवाहन को सामने रखकर प्रसाद जी ने जागरण-गीत लिखे हैं। ये गीत तत्कालीन राष्ट्रीय संदर्भ, स्वाधीनता की चिंता आदि से भी ओतप्रोत है। ध्यातव्य है कि प्रसाद के समकालीन कवि निराला, पंत तथा महादेवी ने भी अपनी कविताओं में जागृति के स्वर को निनादित करने का प्रयास किया है।

निराला के जागरण गीतों से शक्तिकाव्य को अधिक बल मिला है। 'जागो फिर एक बार' (1921) में आत्म-गौरव एवं उद्‌बोधन का भाव व्यक्त हुआ है। अकाली सिक्खों के शौर्य की वाणी को स्मरण करते हुए निराला कहते हैं -

'शेरों की माँद में
आया है आज स्यार
जागो फिर एक बार'

'बादलराग श्रृंखला' की कविताओं में स्वतंत्रता केंद्रीय संवेदना के रूप में उभरती है। सोवियत क्रांति में सर्वहारा वर्ग ने जो भूमिका निभाई थी कुछ ऐसी आशा निराला को भारतीय कृषक एवं अन्य वर्ग से संबंधित शोषितों से रही होगी। 1923 में विप्लव के बादल का आह्वान करते हुए निराला का चित्रण द्रष्टव्य है -

'जीर्ण-बाहु है शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर'

'प्रिय मुदित दृग खोलो' 'जागा दिशा ज्ञान' 'जागो जीवन धानिके' आदि अनेकानेक कविताओं में निराला ने जागरण गीत लिखे हैं। इन गीतों के माध्यम

से कवि मनुष्य के हृदय के किसी कोने में निहित सुषुप्ति को चैतन्यावस्था प्रदान करने के लिए प्रतिश्रुत प्रतीत होता है। उक्त गीतों के माध्यम से संघर्ष एवं क्रांति के कवि निराला ने आम आदमी के संघर्ष की अभिव्यक्ति की है। उन्होंने जागरण के माध्यम से आम आदमी को संघर्षशील बनाने का भी प्रयास किया है। शक्ति के आवाहन हेतु कवि ने जागरण-गीत लिखे हैं। निराला की कविता तुलसीदास में भी यह आह्वान है -

'जागो, जागो, आया प्रभात
बीती वह, बीती अंध रात'

निराला की रचनाओं में शक्ति-चेतना निहित है। परतंत्रता ही नहीं रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों से भी मुक्त होना निराला की शक्ति-चेतना का मूलकेंद्र है। इनकी शक्ति चेतना बैसवाड़े के पुरुषत्व से ऊर्जस्वित ही नहीं थी बल्कि बंगीय प्रांत की सुकोमलता से भी प्रभावित थी। इसलिए इनके जागरण गीतों तथा लंबी कविताओं में ओजस्विता का स्वर संचार होता है, नई ऊर्जा से राष्ट्रीय आंदोलन मजबूत होता है।

निराला ने शक्ति की मौलिक कल्पना की है। शक्ति-साधना में मनुष्य मात्र को विवेकवान बनाने का सपना है। उनके समाज में देश के नायक तथा अधिनायक विवेकशून्य हो दूसरे के हाथों की कठपुतली बनने लगे थे। ऐसे में निराला ने ज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया। ज्ञानविहीन होकर ये लोग जाति-वर्ण-धर्म की संकीर्णता से ऊपर नहीं उठ पा रहे थे। निराला ने सरस्वती (ज्ञान की प्रदात्री) की वंदना की। ज्ञान की ज्योति प्रवाहित करने का अनुरोध किया ताकि ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, छुआछूत के तमाम भेद-भाव मिट सकें।

शक्ति की मौलिक कल्पना करना छायावादी काल के लिए आवश्यक था। यह मनुष्य को केवल जगाती नहीं उसे आगे बढ़ाने में भी सहायक होती है। इस शक्ति की साधना के लिए न तो फूलों की आवश्यकता है और न अक्षत दुर्वादल की। व्यक्ति के आत्म-प्रत्यय को झंकृत करने की जरूरत है। शक्ति की मौलिक कल्पना का रूप बुद्धिजीवियों द्वारा संगठित हो सकता है। यह रूप जनशक्ति बनकर उभरे और बंधनमात्र को छिन्न-भिन्न करने का प्रयास करे। 'आराधन का दृढ़ आराधन' में उत्तर देने के पश्चात शक्ति का मौलिक रूप नवीन हो सकता है। इससे जय-जयकार की अनुगूँज उत्पन्न होती है।

छायावाद युग में शक्ति मुट्ठी भर लोगों की वंदिनी बनी हुई थी। हालाँकि आज भी शक्ति या तो सत्तासीनों अथवा अंडरवर्ल्ड के डॉनों के हाथ की

कठपुतली बनी हुई है। रामायण काल में रावण, महाभारत काल में कौरव एवं निराला के समाज में अंग्रेजों का भरपूर साथ दिया है शक्ति ने। अन्याय एवं अत्याचार की क्रूर दानव–लीला से प्रपीड़ित आम आदमी का संताप व्यक्त होता है –

'अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति'

इस शक्ति के स्वरूप को जानना भी आवश्यक है। यह शक्ति अंतस उत्पन्न हैं, आंतरिक है, बाह्य नहीं। यह शक्ति नवीन तो है ही, मौलिक भी। यह शक्ति इंपोर्टेड नहीं, सेल्फ आर्नड (स्वार्जित) है।

'कामायनी' तथा 'राम की शक्तिपूजा' दोनों रचनाओं में दानवी वृत्ति पर स्वस्थ संस्कृति या शक्ति की विजय है। प्रसाद जी की दृष्टि में विनाश एवं निर्माण के द्वंद्व के मध्य मानवीय संस्कृति का विकास होता है – 'पुरातनता का यह निर्मीक सहन न करती प्रकृति पल एक।' नश्वरता ही सृजन का मार्ग प्रशस्त करती है। पुरानी टूटी–फूटी वस्तुओं को गलाकर नई चीजें बनाई जाती हैं। कामायनी में प्रसाद ने इस निर्माण की शक्ति को पहचाना है। उन्होंने सर्जनात्मक मूल्य की चिरंतनता को स्वीकार किया है। मानवीय चेतना के विकास को प्रस्तुत किया है –

'शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय
समन्वय करे उनका समस्त विजयिनी मानवता हो जाय'

राष्ट्रीयता शक्तिकाव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। परंतु शक्तिकाव्य का सामान्य अर्थ राष्ट्रीय–काव्य नहीं है। उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि हेतु 'विजयिनी मानवता' पदबंध देखा जा सकता है। मानवता की चिंता कवि की प्रमुख चिंता बनकर आई है। इसकी विजय की कामना सबसे बड़ी उपलब्धि है। शक्तिकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने व्यक्ति से मनुष्य, मनुष्य से जातीयता, जातीयता से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्वभावना की यात्रा की है। पंत ने मानवतावाद की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है –

'सुमन सुंदर, विहग सुंदर, मानव तुम सबसे सुंदरतम'

इस संदर्भ में महादेवी के गीतों को 'आँसू से गीले' कहकर उपेक्षित कर देना भी अनुचित है। ये आँसू से भीगे गीत निराशा के भाव प्रदर्शित नहीं करते। ये रचनात्मक आस्था प्रकट करते हैं। महादेवी दुःखव्रती अवश्य हैं परंतु सृजन हेतु उन्मद भी हैं –

'दुखव्रती निर्माण उन्मद, यह अमरता नापते पद'

प्रसाद जी ने काम के उदय को रहस्यात्मक शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। श्रद्धा प्रेरणादायिणी, शक्तिप्रदायिनी है। यह शक्ति-स्वरूप है। काम सर्जनात्मक मूल्य का प्रतीक है -

'जिसे तुम समझते हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल
ईश का वह रहस्यमय वरदान, उसे तुम कभी न जाओ भूल'

निरालाकृत 'तुलसीदास' में तुलसीदास के कामातुर रूप में रत्नावली जागृत होती है -

'जागी जोगिनी अरूप-लग्न
वह खड़ी शीर्ण प्रिय-भाव-मग्न निरुपमिता'

'सांध्यगीत' एवं 'संध्यासुंदरी' कविताओं के माध्यम से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंतर्विरोधी भावों से शक्ति-काव्य को अधिक बल मिला है। अंतर्विरोध किसी भी श्रेष्ठ साहित्य की कमजोरी नहीं है। उसकी शक्ति के रूप में उसकी खास पहचान बनती है। शयन एवं जागरण के द्वंद्व से शक्ति काव्य अद्‌भुत ऊर्जा प्राप्त करता है -

निराला - दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुंदरी परी सी
धीरे-धीरे-धीरे।
महादेवी - चिर सजग आँखें उनींदी
आज कैसा व्यस्त बाना
जाग तुझको दूर जाना।

यह अंतर्विरोध युगीन द्वंद्वात्मक अंतर्विरोधी प्रवृत्ति का परिचायक है। हताशा के बीच आशा का प्रज्ज्वलन इस युग और साहित्य की विशेषता है। यह अंतर्विरोध उसकी खास पहचान भी है। रूमानियत से शक्ति अर्जित करने वाली महादेवी लिखती है -

'तू जल-जल जितना होता क्षय
वह समीप आता छलनामय
मधुर मिलन में मिट जाना तू
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल-खिल
मधुर मधुर मेरे दीपक जल
प्रियतम का पथ आलोकित कर'

सृजन के केंद्र में कल्पना की अहम भूमिका है। शक्तिकाव्य में कल्पना काव्य शक्ति है। कल्पना व्यक्ति के अभिन्न अंग के रूप में आती है। इसके द्वारा ही कवि दुखद वर्तमान में भी मनोहर स्वप्न-लोक की सृष्टि करने का सामर्थ्य प्रदर्शित करता है। यह कल्पना के पंखों के सहारे अतीत के स्वर्णकाल में विचरण कर पाता है। वहाँ से लौट आता है। वह कल्पना के सहारे क्षितिज के उस पार से वापस आ जाता है एवं भविष्य का स्वप्नलोक बना लेता है। इसी शक्ति से कवि का शाश्वत सौंदर्य सृजन संभव होता है। संसार नश्वर है। परंतु इसी नश्वरता में अनश्वरता की खोज हो जाती है। कम से कम इस खोज की शक्ति अर्जित हो जाती है –

'तुम सत्य रहे चिर सुंदर
मेरे इस मिथ्या जग के'

शक्ति-काव्य के रूप में छायावाद की चर्चा करते समय नारी की प्रधानता को स्वीकार करने वाले कवियों की दृष्टि पर भी विचार करना उचित है। इस काल में पंत जी ने नारी को 'अकेली सुंदरता कल्याणी' ही नहीं कहा बल्कि उसे समस्त ऐश्वर्यों की खोज के रूप में प्रकट किया है। नारी शक्ति के विविधरूपों का स्मरण करेत हुए पंत ने कहा है – 'देवि, माँ, सहचरि, प्राणश। इस काल के कवियों ने नारी को भारतीय जागरण का आधारस्रोत बताया है। तत्कालीन राजनीतिक जीवन में नारी की सहयोगिता का भी वर्णन मिलता है। निराला, पंत आदि ने प्रकृति को नारी-रूप में चित्रित किया है। छायावाद युग में नारी को प्रियतमा के रूप में अधिक स्वीकारा गया है, पत्नी के रूप में कम। प्रेयसी के सम्मान तथा समान भाव के आधार पर देखा गया। इस संदर्भ में नामवर सिंह की मान्यता भी है – 'साहित्य में पहली बार स्त्री और पुरुष के बीच वैयक्तिक स्वच्छंद प्रेम का अभ्युदय हुआ'।

'राम की शक्ति पूजा' में राम स्वयं को धिक्कारने का एक कारण यह भी है कि जानकी (शक्ति की प्रतिमूर्ति) का उद्धार न हो सका। निराला ने पत्नी-प्रेम को आधार बनाकर 'तुलसीदास' 'राम की शक्तिपूजा' जैसी कविताएँ लिखीं तो पुत्री स्नेह को अपनाकर 'सरोजस्मृति'। आशय यह है कि छायावाद युग में नारी शक्ति की प्रतिमूर्ति आधारशिला तथा मूलकेंद्र थी। पूर्णशक्ति अर्जित करने के पश्चात् महादेवी कहती है –

'मैं अनंत पथ में लिखती जो
सस्मित सपनों की बातें

उनको कभी न धो पाएँगी
अपने आँसू से रातें'

छायावादी काव्य में शक्ति के विविध रूप विद्यमान हैं। छायावदी रचनाएँ काव्य-शक्ति के रूप में ही नहीं, शक्ति काव्य के रूप में भी प्रतिष्ठित हैं। ये रचनाएँ व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व को अमाप शक्ति प्रदान करती हैं। शक्ति काव्य में श्रम है, सौंदर्भ भी है। श्रम और सौंदर्य का अद्‌भुत समन्वय साधित हुआ है – 'याम तन भर बंधा यौवन, नत नयन, प्रिय कर्मरत मन' में। इस काव्यांदोलन ने ऊर्जस्वित शक्ति-साधना से हिंदी साहित्य को परिपूर्ण कर दिया है। बंधनों, अंधविश्वासों, दकियानुसी विचारों, पुरानी मान्यताओं तथा गलित परंपराओं से मुक्ति प्रदान करने की अपार शक्ति छायावादी रचनाओं में निहित है। अतः छायावादी काव्य यथार्थतः शक्तिकाव्य है।

समकालीन हिंदी साहित्य के सतरंगी बिंब

आज का भारत इक्कीसवीं सदी के प्रथमार्द्‌ध में पदार्पण कर चुका है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, बाजारवाद और उपभोक्तावाद का मौजूदा दौर आज के भारत की विशेषता है। यह एक ऐसा दौर है जहाँ सेन्सेक्स का आँकड़ा बीस हजार पार कर जाता है और दूसरी ओर आम आदमी की तकलीफों का सूचकांक तेजी से बढ़ता रहता है। आम आदमी अधिकाधिक समस्याओं से जूझता रहता है। इतना ही नहीं मानव मूल्यों के टूटन और विघटन चिंता के विषय बने हुए हैं। जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यापक उथल-पुथल मचे हैं। परिवार, समाज, राजनीति इत्यादि सभी जगह मूल्यों का पतन हो रहा है। यह चिंताजनक है। अपसंस्कृति का विस्तार हो रहा है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था का प्रभाव बढ़ रहा है। भूमंडलीकरण और भौतिकवादी जीवन शैली हमारे पारंपरिक अर्जित मूल्यों को तहस-नहस करने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे हैं। आज एक ओर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में भारतीयों की उत्कृष्ट उपलब्धियाँ हैं तो दूसरी ओर गाँवों में आधारभूत सुविधाएँ प्राप्त नहीं होती हैं। औरतों तथा दलितों पर परंपरागत अत्याचार व शोषण बदस्तूर जारी है। चाँद के बाद मंगल ग्रह की उड़ान एवं वहाँ की जमीन खरीदने की कशमकश है, तो भूख और अकाल से कराहती, छटपटाती अतृप्त आत्माएँ भी भटकती फिरती हैं। कहीं सती-दहन तो कहीं दलित-दहन होता है। व्यक्ति चेतना भटक रही है, मानवीयता लड़खड़ा रही है। मधुमय विश्व की विश्व मानवता लक्ष्यविहीन, दिग्भ्रमित और निश्चेष्ट सी हो

गई है। सांस्कृतिक पहलू पंगु हो रहा है तो चिंतन निस्तेज हो रहा है। फलस्वरूप, इनका प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से रचनाधर्मिता पर पड़ता है। जातिवादी राजनीति का प्रतिगामी परिणाम पूरे देश में दिखाई पड़ रहा है। धर्म का राजनीति में व्यापक पैमाने पर इस्तेमाल हो रहा है। देशभर में सांप्रदायिकता की यदा-कदा कहर है, धर्म बाह्याचार में सीमित हो रहा है। धार्मिक मान्यताएँ सांप्रदायिक वेश-भूषा में अवतरित हो रही हैं। हाल ही में ओड़िशा के फुलबानी जिले की दारिंगबाड़ी की घटना बड़ी चिंतनीय है। संपर्क के सूत्रों की बढ़ोतरी हो रही है बड़ी तेजी के साथ। संबंधहीनता की गति मंथर हो रही है। सूचना क्रांति के विस्फोट ने सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रश्न-चिह्न खड़ा कर दिया है। अपसंस्कृति का अंधानुकरण हिंसा और सेक्स को बढ़ावा दे रहा है। सारांश यह है कि यहाँ मूल्यों का द्वंद्व है, समय के अनेक विरोधाभास एवं बिडंबनाएँ हैं। पूरा भारतीय परिदृश्य अनेक संकटों से भयाक्रांत है, उपभोक्तावादी संस्कृति में हर आदमी किसी को छल रहा है, स्वयं भी छला जा रहा है।

आज एक बेहद अमानवीय दबाव है – 'लूटो नहीं तो लूट लिए जाओगे' इन्हीं विखंडित और ध्वंसोन्मुख मूल्यों के अक्स आज साहित्य में उभर रहे हैं। इन्हीं मूल्यों का नियामक है आज का हिंदी साहित्य।

सोवियत संघ के विघटन का विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप संपूर्ण विश्व में भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की आँधी बहने लगी। मानवीय संबंधों के स्थान पर बाजार की प्रभुता बढ़ी। पूँजी सर्वशक्तिमान हो गई। धनवान विशिष्ट वर्ग में आए तो धनहीन सामान्य, इत्यादि की कोटि में गिने जाने लगे। हिंदी साहित्य में ऐसे उपेक्षितों के प्रति संवेदना से भरपूर बिंब प्रस्तुत करते हैं राजेश जोशी –

कुछ लोगों के नामों का उल्लेख किया गया जिनके ओहदे थे
बाकी सब इत्यादि थे
इत्यादि तादाद में हमेशा ही ज्यादा होते थे
इत्यादि ही करने को वे सारे काम करते थे
जिनसे देश और दुनिया चलती थी
इत्यादि हर जगह शामिल थे
पर उनके नाम कहीं भी
शामिल नहीं हो पाते थे।
(इत्यादि, दो पंक्तियों के बीच,)

संवेदनशून्यता, निस्संगता, स्वार्थपरता आज के भारतीय समाज में गहरे रूप में विद्यमान हैं। हत्यारा खुलेआम घूमता-फिरता है और निरपराध को कारागार में ठूँस दिया जाता है। हत्यारे को केवल मदद नहीं, सांविधानिक सुविधाएँ भी मिलती हैं। सत्ता की ओर से तमाम साधन भी जुटाए जाते हैं। हमारे समय के प्रतिष्ठित कवि अरुण कमल की बिंबात्मक अभिव्यक्ति है -

देखो हत्यारों को मिलता राजपाट सम्मान
जिनके मुँह में कौर मांस का उनको मगही पान।
(सबूत, 1989)

आज हमारे समाज में धर्म के नाम पर सत्ता और क्रूरता का व्यापार चल रहा है। धर्म की कट्टरता के पीछे घृणित मानसिकता और उद्देश्य निहित हैं। लोग विलुप्त को खोजकर उनके समक्ष प्रस्तुत यथार्थ को झुठलाना चाहते हैं। ऐसे लोगों पर व्यंग्य करते हुए विष्णु नागर कहते हैं -

वे इन दिनों विलुप्त मंदिरों
विलुप्त नदियों, विलुप्त शत्रुओं
विलुप्त मित्रों की खोज में व्यस्त हैं
ताकि जो आँखों के सामने हैं
उनका विलोपन किया जा सके।
(हँसने की तरह रोना, 2006)

ऐसी मनोवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए कमलेश्वर ने 'कितने पाकिस्तान' में भी बाबरी मस्जिद के संदर्भ में रामजन्मभूमि प्रकरण को साम्राज्यवादी शक्ति की साजिश बताया है। आज धर्मगुरु हत्याएँ करने लगे हैं। कुछ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत के कई धर्मगुरुओं का दुष्कांड भी सामने आया था। इस पर विष्णु नागर खेद प्रकट करते हुए कहते हैं -

आजकल धर्म इतना अच्छा चल रहा है कि
शब्दकोश में हत्यारे का अर्थ धर्मगुरु हो गया है।
(यथोपरि)

आज भारत में लूटपाट की दानवलीला सर्वत्र व्याप्त है। लूट मचाने के लिए हिंसा का माहौल खड़ा किया जा रहा है। इस लूट के विभिन्न बिंब आज भी हिंदी कविता में प्रस्तुत हैं। अरुण कमल के शब्दों में -

ऐसा जमाना आ गया है उल्टा
कि कोई तुम्हें रास्ता बतावे तो

शक करो
वह तुम्हें लूट सकता है सुनसान पाकर।
(सबूत)

अरुण कमल की तरह संजय चतुर्वेदी ने अपनी 'लुटेरे बनकर इतिहास' शीर्षक कविता में युगीन सत्य एवं विडंबना को प्रस्तुत किया है –

वक्त का हर बड़ा लुटेरा
अमर है इस शहर में।

लूट के अनके रूप-रंग हैं। धन लूटा जाता है, संपत्ति लूटी जाती हैं। परंतु इससे भी चिंताजनक लूट है नारी का लुंठन, उसकी इज्जत का लूटना। कवि विष्णु नागर के शब्दों में –

उसे बताया गया था कि उसका सब कुछ लुट चुका है
जिसका मतलब ये था कि ए औरत
तेरा लुटेरा पकड़ा भी गया तो क्या फायदा
लूट का माल तो उससे बरामद होने से रहा
और उससे अपेक्षा करेंगे कि
जब उसके साथ फिर से ऐसा कुछ हो
तो वह प्रतिरोध न करे
क्योंकि जिसका सब कुछ पहले ही लुट चुका है
उसका कोई बार-बार क्या लूटेगा।

पिछले कई दशकों से नदी, वृक्ष, आकाश, समुद्र, धरती आदि पर हिंदी में अनेक कविताएँ लिखी जा रही हैं। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रकृति के बिना अपनी अपूर्णता को हम महसूस कर पा रहे हैं। प्रकृति और मानवीय संबंधों से हमें नई ऊर्जा मिलती है। यह नई ऊर्जा हमें निर्भयता प्रदान करती है। मानव एवं प्रकृति का अटूट संबंध है। दोनों अभिन्न हैं। यह अलग बात है कि यांत्रिक सभ्यता ने मनुष्य को प्रकृति से दूर धकेलने का निरंतर प्रयास किया है। उसे प्रकृति के विरुद्ध भी खड़ा कर दिया है। फलस्वरूप प्रकृति एवं मानव के सहज संबंध बाधाप्राप्त हुए। मनुष्य की संवेदना छीज गई। प्रकृति के विनाश से नगर सभ्यता की विभीषिकाएँ सामने आईं। प्रकृति पर मनुष्य के एकाधिकार भाव ने, उसकी वर्चस्व लालसा ने वीभत्सता खड़ी कर दी। ऐसे ही भावों से पुष्ट मुनि क्षमासागर की काव्य-पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं –

आकाश सबका
दीवारें हमारी अपनी
नदी सबकी
गागर हमारी अपनी
धरती सबकी
आँगन हमारा अपना
विराट सबका
सीमाएँ हमारी अपनी।
(अपना घर)

विज्ञान एवं तकनीक के निरंतर विकास से प्रकृति सबसे अधिक क्षतिग्रस्त हो रही है। पर्यावरण प्रदूषण के खतरे मँडराते हैं। पर्यावरण-विनाश काल में कवि ज्ञानेंद्रपति की व्यथा ही ध्वनित नहीं होती, अमरीका के वर्चस्ववाद पर भी उनका व्यंग्यात्मक स्वर सुनाई पड़ता है। कवि ने यह संकेत भी किया है कि अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष, संयुक्त राष्ट्र संघ पर अमरीका का कैसा वर्चस्व है। विश्व बाजार में उसका दबदबापन आज भी जारी है -

बारूदी धुएँ से उठते वायुमंडल
खाँसती-हाँफती-काँपती मानवता किस ओर ताके
सड़क किनारे मंदिर में मर चुके अर्ध सभ्य ईश्वर की जगह
चमचमाता अचूक कंप्यूटर खड़ा है
स्कड, पैट्रियाट, टॉमहॉक, हेलफायर मिसाइलें, न्यूट्रान बम,
न्यूक्लियर बम, हाइड्रोजन बम
इक्कीसवीं शताब्दी के प्रवेश द्वार पर लटक रहे हैं बंदनवारों की तरह
कि एक उन्मत्त साँड़ है संयुक्त राज्य अमेरिका।
और उसका उफनता अंडकोश भर है संयुक्त राष्ट्र संघ।
(संशयात्मा)

कवि ज्ञानेंद्रपति की रचना में ग्रामीण जीवन के अनेक बिंब प्रस्तुत हैं। सूअरों के बच्चों के साथ खेलते आदिवासी बच्चों के पिता मजदूरी की खोज में जा रहे हैं। कवि इस दृश्य की बिंबात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है -

बहंगिया उठाए
पंजाब का देखने सूर्योदय
जहाँ सूर्य पूरी रोटी की तरह गोल
गेहूँ के खेतों के ऊपर।

आज के भारत में मीडिया सरकार अथवा पूँजीपतियों का कठमुल्ला बना हुआ है। मीडिया को केवल मुनाफा चाहिए। भूख से छटपटाते, अकुलाते लोगों से उसे मुनाफा नहीं मिलता है। अतः आदिवासियों की निर्यातना से बढ़कर कहीं अधिक महत्त्व देता है फैशन शो अथवा क्लब की पार्टियों को। आज का समकालीन कवि मीडिया के माया-जाल को समझता है और दूसरों को भी उस पीड़ा का अहसास कराते हुए कहता है–

आजादी के गोल्डन जुबली साल में
बाजार से अपनी पसंद की चीज चुनने की आजादी
और आपकी पसंद
वे तय करते हैं
जिनके पास उपकरणों का कायाबल
विज्ञापनों का मायाबल
...आपकी आजादी पसंद है उन्हें
चीजों का गुलाम बनाने की आजादी।

अरुण कमल की कविताओं में बिंबों का अनोखा प्रयोग है। उनके चौथे कविता-संग्रह 'पुतली में संसार' (2004) में पहली कविता पुतली में संसार है। द्रोपदी स्वयंवर के मिथक पर आधारित इस कविता में पुतली में संसार और आँख का गोला बिंब के माध्यम से द्रोण द्वारा ली गई धनुर्विद्या की परीक्षा को समेटा गया है। अर्जुन की मन:स्थिति अर्थात आज के मनुष्य की मन:स्थिति को प्रकट करने का सफल प्रयास भी है। अर्जुन को मछली की आँख नहीं उसका संसार भी उनके बिंबों में दिखाई पड़ता है–

मुझे तो देखना था बस आँख का गोला
और मैं इतना अधिक सब कुछ क्यों देख रहा हूँ देव।
(पुतली में संसार)

आलोच्य कवि की कविताओं में दुर्लभ बिंबों का निर्माण बड़े ही मनोरम ढंग से हुआ है। इन बिंबों के सृजन से कवि की काव्य-प्रतिभा का परिचय भी मिल जाता है। कवि के शब्दों में -

नदी का स्वच्छ आँख के कोए जैसा पानी
और भीड़ भरे नीड़
मूक उठता चाँद
और पीपल कत्थई पत्तों से छलछल

और बटलोई में कलछुए चलने का स्वर
फैलती है भाप की गर्म गाढ़ी भाप
रात के आर्द्र नथुनों में।
(पुतली में संसार)

भारत की जनजातियों की आदिम सभ्यता, उनकी रीति–नीति, उनकी जीवन–शैली के साथ आज का सभ्य मानव अत्यधिक मात्रा में छेड़छाड़ कर रहा है। उनकी चिंताओं, उनके सपनों से परिचित कराने का माद्दा लीलाधर मंडलोई में है। आदिवासी जनजातियों के अँधेरे इलाके में पहुँचाकर कवि हमें आस्था एवं विश्वासभरे स्वर से कहता है –

दुनिया में उनकी
न पहुँचा घी–दूध
न गेहूँ चावल
और न उन्हा लत्ता
दुनिया में उनकी
न पहुँची सड़कें
न रेलगाड़ी
और न बिजली
...किंतु घबराए नहीं वे
कि पेड़ों में जिंदा है हरापन
और लकड़ियों में बची हुई है
उनके हिस्से की आग
...कि वे भून सकते हैं वे
मछलियाँ, केकड़े, सूअर
और जला सकते हैं कभी भी मशाल।
(उनके हिस्से की आग)

इस संदर्भ में कुछ दलित आत्मकथाओं का भी उल्लेख किया जा सकता है। 'डेराडंगर' 'अछूत' तथा 'जूठन' आदि रचनाओं में दलितों के प्रति किए जा रहे अन्याय और उन पर हो रहे शोषण के जीवंत चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। उत्पीड़न के इतिहास को ओमप्रकाश बाल्मीकि ने 'जूठन' में प्रस्तुत किया है। हेडमास्टर कालीराम को जैसे ही पता चलता है कि ओमप्रकाश चूहड़े जाति का है, तभी कहता है – 'वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा

और टहनियाँ तोड़ के झाड़ू बना ले। पत्तोवाली झाड़ू बनाना। और पूरे स्कूल को ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो ये खानदानी काम है। जा... फटाफट लग जा काम पे।' (जूठन, पृ. 14)

'डेराडंगर' एक घुमक्कड़ समाज के दलित की आत्मकथा है, उसकी एक पंक्ति दृष्टव्य है – काम के समय बड़ों के समान टोकरियाँ भरकर देते थे और वेतन देते समय मैं छोटा दिखाई पड़ता था। (डेराडंगर, पृ. 113)

ओमप्रकाश बाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, कौशल्या बैसंती, जयप्रकाश कर्दम, हरनोट, धर्मवीर आदि ने दलित साहित्य के विभिन्न बिंबों को प्रस्तुत किया है। अब तो दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र गढ़ा जा चुका है।

आज के भारत का सबसे बड़ा चिंतनीय प्रश्न है संवेदनाओं का क्षरण। संवेदनहीनता से उत्पन्न स्थिति के बिंब हिंदी कहानी में मौजूद है। उदय प्रकाश की नौ कहानियों का संकलन है 'तिरिछ'। 'तिरिछ' शीर्षक कहानी में नगर जीवन की यांत्रिकता, स्वार्थपरता, मूल्यहीनता के अनेक बिंबों के साथ ग्रामीण जीवन की सहजता को समाप्त करने वाली वीभत्सता का भी वर्णन है। पूँजी की वर्चस्वता मानवीय मूल्यों के लिए संकट बनकर आती है। उदय प्रकाश ने कहा है –

मैं जोर–जोर से बोलकर जागने की कोशिश करता हूँ... मैं विश्वास करना चाहता हूँ कि यह सब सपना है।.. और अभी आँख खोलते ही सब ठीक हो जाएगा... मैं सपने के भीतर अपनी आँखें फाँड़कर देखता हूँ... दूर तक ... लेकिन वह पल आखिर आ ही जाता है।.. (तिरिछ, पृ. 47)

पूँजी के बढ़ते प्रभाव के चलते समाज में अमानवीयता फैल रही है, मध्यवर्गीय सामाजिक विसंगतियाँ मुँह बाएँ खड़ी हैं। प्रशासनिक अधिकारी भ्रष्टाचार में लिप्त हो रहे हैं। ऐसी स्थितियों के बिंब गढ़ने में उदय प्रकाश की कोई तुलना नहीं है। 'दद्दु तिवारी, गणनाधिकारी' 'अरेबा–परेबा' 'साइकिल' 'दिल्ली की दीवार' 'दिल्ली' जैसी कहानियाँ उपर्युक्त कथन के उदाहरण हैं। दिल्ली शीर्षक कहानी से एक उद्धरण दृष्टव्य है – 'ख्वाजा, तुमको पता होना चाहिए कि दिल्ली दौलतमंद लुटेरों की नगरी है, कोई गरीब या दीन–ओ–ईमान वाला आदमी अगर वहाँ रहने की कोशिश करेगा, तो उसका हश्र ऐसा होगा कि उसका हाल देखने–सुनने वालों के जिस्म के सारे रोएँ खड़े हो जाएँगे और नाजुक–दिल–ओ–दिमाग वाले लोगों के आँसू सूख जाएँगे'(दत्तात्रेय के दुख, पृ. 46) इस संदर्भ में भगवत रावत की 'कहते हैं कि दिल्ली की है कुछ आबोहवा

और" शीर्षक लंबी कविता स्मरणीय है। इसके तेरह खंड हैं। इसमें महानगरीय जीवन में व्याप्त अमानवीयता के बढ़ते व्यापार तथा उससे पीड़ित तमाम कस्बों, शहरों के लोगों की त्रासदी के अनेक बिंब खींचे गए हैं -

दिल्ली का होने के लिए
दिल्ली का होना जरूरी नहीं है
समझ से काम लें
तो दिल्ली आपकी हो सकती है
और होने को दिल्ली भोपाल में हो सकती है
पर दिल्ली में रहते हुए
आप भोपाल के नहीं हो सकते
भोपाल का होने के लिए
भोपाल का होना जरुरी है
यह बात अलग है कि अब भोपाल को
भोपाल में खोजना
कठिन होता जा रहा है।
(नया ज्ञानोदय, जुलाई 2007)

पूँजीवादी सभ्यता ने मनुष्य को 'षड्यंत्र का शिकार बनाया है। तकनीक ने न केवल प्रकृति को बल्कि मनुष्य को भी दास बना रखा है। इस 'षड्यंत्र में स्वयं मनुष्य शामिल है। उदय प्रकाश के शब्दों में - 'यह उन्हें ठीक न लगता कि जहाँ आदमी होने के बावजूद एक प्लास्टिक के नगण्य और निर्जीव बटन को दबाते हैं, वहीं एक दूसरा उनके जैसा ही जीवित मनुष्य, मनुष्य होने के बावजूद उनकी यांत्रिक आवाज सुनकर अपना समूचा शरीर लिए हुए दौड़ता-हाँफता उनकी मेज तक चला आता है। यह तकनीक द्वारा प्रकृति और मनुष्य को गुलाम बनाने का एक अत्यंत मार्मिक और दहला देने वाला उदाहरण था। विडंबना यह थी कि स्वयं मनुष्य ही इस षड्यंत्र में शामिल था।' (दत्तात्रेय के दुख, 14) 'हीरालाल का भूत' कहानी पर 'उपरांत' नामक फिल्म बनी जिसमें वर्ग-संघर्ष, अंध-विश्वास, शोषण, अमानवीयता आदि के अनेकानेक बिंब प्रस्तुत किए गए हैं। शिक्षा क्षेत्र में व्याप्त अराजकता, जातिवाद का वर्चस्व आदि के मार्मिक चित्र 'पीली छतरी वाली लड़की' में अंकित हैं। जातिवाद, भाई-भतीजावाद के तमाम बिंब भी इसमें मौजूद हैं। भूमंडलीकरण ने हमारी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक स्थितियों को किस रूप में प्रभावित

किया है, उसका भी चित्रण है। आज के मनुष्य की विसंगतियों के अनेक बिंब भी उकेरे गए हैं।

आज हिंदी साहित्य में स्त्री लेखन ने स्त्री मुक्ति आंदोलन को नई गति प्रदान की है। मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, शिवानी, ममता कालिया, सूर्यबाला, नमिता सिंह, राजी सेठ, मंजुल भगत, शशिप्रभा शास्त्री, नासिरा शर्मा, मेहरुन्निसा परवेज, आदि के कथा साहित्य में नारी–जीवन के विविध बिंब अंकित हैं। यह सत्य है कि कुछ महिला कथाकारों ने मुक्त यौन–विहार को चुनकर स्त्री–मुक्ति का मुद्दा बना लिया है। पश्चिम से आयातित इस सोच का खूब अनुसरण किया है। हालाँकि अब पश्चिम में भी इसका प्रचलन घट रहा है। यौनमुक्ति को नारी–मुक्ति का अर्थ मान बैठने का प्रचलन होने लगा। इनमें मृदुला गर्ग का नाम सर्वोपरि है। 'चितकोबरा' उनका लोकप्रिय उपन्यास रहा है।

कृष्णा सोबती की कथा में अगर हम प्रेम और मृत्यु की लगभग काव्यात्मक रागात्मकता के बिंब पाते हैं तो मन्नू भंडारी में पारिवारिक स्त्रियों में आती टूटन की भाव प्रवण अभिव्यक्ति। ममता कालिया की कहानियों में अविवाहित स्त्रियों की काफी बड़ी तादाद है। इन अविवाहितों के आचरण से पता चलता है कि विवाह न करने का उन्हें कोई मलाल नहीं है। परंतु ये पुरुष की तानाशाही, विकृत मानसिकता, मनमानेपन इत्यादि का विरोध करती हैं। यह विरोध विरोध तक ही सीमित रह जाता है। स्थगन–सा दिखाई पड़ता है। क्योंकि यहाँ वैकल्पिकता का अभाव है। ममता कालिया की नारी इस्मत चुगताई की तरह जोखिम नहीं उठा पाती है। जीवन के यथार्थ को कहानी के पाठ का यथार्थ बना दिया जाता है।

नारीवादी आंदोलनों ने नारी समाज में कुछ हद तक जागृति एवं आत्मसम्मान का भाव भर दिया है, इसमें कोई संदेह नहीं होना चाहिए। शिक्षित नारी ने आँखें मूँदे सब कुछ स्वीकार नहीं किया। उस पर हो रहे अन्याय का विरोध हुआ। प्रतिवाद का स्वर उभरा। परंतु जब यह नारी बनाम पुरुष के संघर्ष में सीमित हो जाए तो नारीवादी आंदोलन के सामने कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं। ध्यान रहे कि कोई भी आंदोलन तभी सार्थक होता है जब उसमें समाज के सभी वर्गों की समान रूप से भागीदारी हो। नारीवादी आंदोलन के पश्चिमी अध्याय ने इसे स्वीकार लिया है। अपने देश में भी इस दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए कि पुरुष को साथ लेकर नारी आंदोलन को सार्थक बनाया जा सकता है।

नारी परिवार में गैरबराबरी, सड़कों पर उत्पीड़न, साहित्य में तसल्ली और मीडिया में ग्लैमराइज्ड होकर अपमान सहन कर रही है। नारी चेतना ने इसे यथार्थ रूप में अभिव्यक्त किया है। यह नारीवादी आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। कभी जिस नारी को प्रकृति की तरह हरी-भरी, कोमलांगी के रूप में चित्रित किया गया था उस नारी के जीवन की डिजर्ट को आज हिंदी साहित्य में प्रस्तुत किया जा रहा है। नारी कथाकारों ने नारी पर हो रही लांछनाओं, नागफनियों, तपती रेत, सूखी धारा को अपनी रचनाओं का आधार बनाया है। उसके स्वाभिमान, उसकी अस्मिता एवं उसके साहस की बिंबात्मक अभिव्यक्ति है। मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' 'अलमा कबूतरी' जैसे उपन्यास इसके उदाहरण हैं - स्वयं मैत्रेयी जी के शब्दों में -

'मेरे लिए स्त्री-विमर्श का अर्थ स्त्री की स्वतंत्रता, इच्छा और अस्मिता है'

मैत्रेयी जी की नारी काम-काज वाले संसार की है, वह चाहे 'इदन्नमम' की मंदा हो या 'चाक' की सारंग, 'अलमा कबूतरी' की अलमा हो या 'गोमा हँसती है' की गोमा, सभी स्त्रियाँ जीवन के प्रत्यक्ष कुरुक्षेत्र में हैं। 'इदन्नमम' मे एक उद्धरण से कथाकार की नारी-चेतना को स्पष्ट करने का प्रयास है-

'मंदाकिनी ने साफ नकारते हुए कहा - नहीं बऊ, नहीं, हम नहीं मानते. .. अर्जुन द्वारा स्वयंवर करके लाई गई द्रौपदी को अपने पाँचों पुत्रों में बाँट देना तुम्हें अच्छा लगा होगा बऊ, हमें तो एक औरत के प्रति दूसरी औरत का घोरतम अन्याय और कुकर्म लगा'

नारी के अधिकारों का सवाल समकालीन हिंदी साहित्य में बार-बार उठाया गया है, कात्यायनी, अनामिका ही नहीं गगन गिल, सीमा सोनी तथा शुभा ने भी इसे अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। इनकी कविताओं में कहीं नारी शोषण की पीड़ा है तो कहीं सामंतवादी सोच पर करारा प्रहार है। इनके रचना-संसार से नारी सुलभ व्यथा, पीड़ा, स्वप्न एवं आकांक्षाएँ साकार हो उठते हैं। उदाहरणस्वरूप, कात्यायनी की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं -

स्त्री हूँ, अज्ञान के अंधकार में भटकने को पैदा हुई -
यह जानने में ही उम्र का एक बड़ा हिस्सा खत्म हो गया
पशु नहीं थी फिर भी, या बन नहीं पाई,
जो अपरिचित रह जाती ज्ञान से...
तब जाना कि उड़कर इस पृथ्वी से दूर जा सकते हैं

सिर्फ महान कवि
कोई आम आदमी नहीं, स्त्री कतई नहीं।

नारी की दुनिया शोषण और अत्याचार की दुनिया है, पर उस दुनिया के सामने वह घुटने नहीं टेकती, संघर्षरत रहती है। निरंतर युद्ध करती है। ऐसा ही युद्ध है सुमन राजे का 'युद्ध' शीर्षक कविता में कवयित्री युद्धरत नारी का वर्णन करती है। वह अकेली नहीं है। उनका साथ देती है प्रकृति-संपदा और उसके साथ है समूचा जंतु संसार -

आ गया राजा का देश
रुक गई गाड़ी
मुझमें से निकल रही हैं
ओर-छोर नदियाँ
गुर्राते दहाड़ते शेर
लपकती लपटें
और घूमती धरती
आक्रमण की मुद्रा में।

नारी-विमर्श की अन्यतम हस्ताक्षर, 'अन्या से अनन्या' की रचयिता प्रभा खेतान ने कविता को अपनी जरूरत स्वीकारते हुए कहा है - 'कविता मेरी जरूरत है, एक रिलीज, मेरे व्यक्तित्व की एक अभिव्यक्ति।' उन्होंने नारी के अधूरेपन की त्रासदी के बिंब खींचते हुए लिखा है -

सारी-सारी शाम
सूखते-कपड़ों सी बरामदे में
प्रतीक्षा करूँ तुम्हारे आने की
एक क्षण से
दूसरे क्षण तक।

नारी बेटी हो सकती है, पत्नी हो सकती है, सहचरी भी हो सकती है, माँ भी हो सकती है परंतु वह वह भी है। उसकी एक अस्मिता है, पहचान है, भले ही उसका जीवन कँटीली झाड़ी-जैसा क्यों न हो। इस अस्मिता को बनाए रखने हेतु कवयित्री कटिबद्ध है -

मैं तो एक कटिबद्ध झाड़ी
एक जंगली पेड़
हवा से बतियाती
भीड़ से अलग।

हिंदी कविता में निर्मला पुतुल, कात्यायनी, अनामिका आदि ने आज की नारी के विविध रूप प्रस्तुत किए हैं। आंदोलनरत स्त्री के बिंब भी प्रस्तुत किए गए। स्त्री अपना घर-द्वार छोड़कर दूधमुँहे बच्चों को गोद में उठाए बेहतर की उम्मीद मन में पाले शहर तक आती है। वह मुट्ठियाँ हवा में उठाकर नारे लगाती है। वह ब्रह्मांड में अनथक चलती पृथ्वी की तरह प्रतीत है। कवि राजेश जोशी की अपने सद्य प्रकाशित 'चाँद की वर्तनी' (2006) में कवि का उद्गार है -

रैली में चलती स्त्री
जैसे ब्रह्मांड में अनथक चलती पृथ्वी को देखती है
बाहर वह जितनी दिख रही है
उससे उसके सपनों और उसके भीतर मची उथल-पुथल का
अनुमान लगाना नामुमकिन है।
(रैली में चलती स्त्रियाँ, पृ.33)

आज के हिंदी साहित्य में सांप्रदायिकता की समस्या के विविध बिंब उकेरे गए हैं। हिंदी कथा साहित्य के संदर्भ में प्रेमचंद ने हिंदू-मुस्लिम संस्कृति की एकता की वकालत की थी। इस विचारधारा को 'अलग-अलग वैतरणी' 'कुहरे में युद्ध' 'दिल्ली दूर है' 'नीला चाँद' जैसे कालजयी उपन्यासों के माध्यम से विकसित किया गया है, एक धर्म निरपेक्ष भारत के निर्माण का सपना ही इन उपन्यासों में अभिव्यक्त है। 'नीला चाँद' का कीर्ति वर्मा हो अथवा 'कुहरे में युद्ध' का आनंद बाशेक ऐसे ही सपनों को साकार करने के लिए संघर्षरत हैं। मंदिरों को धूलिसात करना, उनका धनकोश लूट लेना, उनकी सुंदर कलाकृतियाँ और मूर्तियाँ तोड़कर गर्वोन्मत्त अट्टहास करना - यह सब लोक रक्षा है? यही सेवक-धर्म है? क्या इसे ही आप मानवता के उच्च गुण कहते हैं। (कुहरे में युद्ध, पृ. 16) 'तमस' हो या 'कितने पाकिस्तान' 'सिक्का बदल गया' हो अथवा 'अमृतसर आ गया' ऐसी तमाम रचनाओं में सांप्रदायिक सौहार्द्र एवं संप्रीति को ही सामने रखा गया है। कवि नरेंद्र पुंडरीक ने 'नंगे पाँव का रास्ता' कविता संकलन की 'दो लोग' शीर्षक कविता में सांप्रदायिकों को कोसते हुए जो शब्द-चित्र अंकित करते हैं, वह निम्नवत है -

ये दो लोग
रातों-रात काटकर रख देते हैं दो मुल्क
बस्ती चीखती है
दुकानें लुटती हैं

देखते –देखते
लाशों से पट जाते हैं शहर।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि समकालीन हिंदी साहित्य में आज के भारत का बिंब विभिन्न प्रश्नों के माध्यम से उपस्थापित है। भूमंडलीकरण, उपभोगवादी संस्कृति में बाजारवाद का वर्चस्व, विकसित पूँजीवाद की छद्म लीलाएँ, सांप्रदायिक एवं आतंकवाद की वीभत्सता, स्त्री–चेतना के विविध पहलू, जातीय समीकरण की चीख, मानवीय मूल्यों एवं संबंधों की भयानक क्षरणशीलता के शब्द चित्र अंकित हैं। हिंदी का रचनाकार संबंधहीनता के महासमुद्र में गोता लगाते हुए जीवन की सीपी बटोरने का प्रयास करता है। उसे कुछ सीपियों में मोती मिल जाते हैं तो कुछ नहीं मिलते। महत्त्व इसमें नहीं कि मोती की प्राप्ति हुई या नहीं। महत्त्व है उसे ढूँढ़ने में, खँगालते रहने में, उसके संधान करते रहने में। हिंदी रचनाकार इसी सोच में रत है। इसलिए अपने समाज तथा समय के तमाम बिंब हिंदी साहित्य में विद्यमान हैं। जब वह असहाय स्थिति में होता है, उसकी बिंबात्मक अभिव्यक्ति भी प्रस्तुत कर देता है, दूसरों के द्वारा हाँके जाने वाले आदमी की असहायता को साकार करने का प्रयास भी कवि करता है।

वह एक ऐसा जानवर है जो दिनभर
भूसे के बारे में सोचता है
रातभर ईश्वर के बारे में।
(बैल, केदारनाथ सिंह)

3

आधुनिक हिन्दी नाटक

आधुनिक काल की अन्य गद्य–विधाओं के ही समान हिन्दी नाटक का भी आरम्भ पश्चिम के संपर्क का फल माना जाता है। भारत के कई भागों में अंग्रेजों ने अपने मनोरंजन के लिए नाट्यशालाओं का निर्माण किया जिनमें शेक्सपीयर तथा अन्य अंग्रेजी नाटककारों के नाटकों का अभिनय होता था। उधर सर विलियम जोन्स ने फोर्ट विलियम कॉलेज में संस्कृत के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' के हिन्दी अनुवाद के अभिनय की भी प्रेरणा दी। इस बीच 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' के कई हिन्दी अनुवाद हुए जिनमें राजा लक्ष्मण सिंह का अनुवाद आज भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सन् 1859 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने 'नहुष' नाटक लिखा और उसको रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इधर पारसी नाटक कम्पनियां नृत्य–संगीत प्रधान, नाटकों को बड़े धूम–धड़ाके से प्रस्तुत कर रही थी जिससे सुरुचि सम्पन्न तथा साहित्यिक गुणों के खोजी हिन्दी–साहित्यकार क्षुब्ध थे। इस सबसे प्रेरित होकर भारतेन्दु बाबू ने जनता की रुचि का परिष्कार करने के लिए स्वयं अनेक नाटक लिखे और अन्य लेखकों को नाट्य साहित्य की रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी–नाट्यकला के विकास को चार कालों में बाँटा जा सकता है।

(1) भारतेन्दुयुगीन नाटक–1850 से 1900 ई.
(2) द्विवेदी युगीन नाटक–1901 से 1920 ई.
(3) प्रसाद युगीन नाटक–1921 से 1936 ई.
(4) प्रसादोत्तर युगीन नाटक–1937 से अब तक

भारतेन्दु-युगीन नाटक

हिन्दी में नाट्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन भारतेन्दु द्वारा होता है। भारतेन्दु युग नवोत्थान का युग था। भारतेन्दु देश की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक दुर्दशा से आहत थे। अतः साहित्य के माध्यम से उन्होंने समाज को जागृत करने का संकल्प लिया। समाज को जगाने में नाटक सबसे प्रबल सिद्ध होता है। भारतेन्दु ने इस तथ्य को पहचाना और नैराश्य के अन्धकार में आशा का दीप जलाने के लिए प्रयत्नशील हुए। युग–प्रवर्तक भारतेन्दु ने अनुदित/मौलिक सब मिलाकर सत्रह नाटकों की रचना की, जिनकी सूची इस प्रकार है।

(1) विद्यासुन्दर (1868),
(2) रत्नावली (1868),
(3) पाखण्ड विखंडन (1872),
(4) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873),
(5) धनंजय विजय (1873),
(6) प्रेम जोगिनी, (1874),
(7) सत्यहरिश्चन्द्र (1875),
(8) मुद्राराक्षस (1875),
(9) कर्पूर मंजरी (1876),
(10) विषस्य विषमोषधम् (1876),
(11) श्री चन्द्रावली (1875),
(12) भारत–दुर्दशा (1876),
(13) भारत जननी (1877)
(14) नीलदेवी (1880),
(15) दुर्लभ–बन्धु (1880),
(16) अन्धेर नगरी (1881),
(17) सती प्रताप (1884)।

मौलिक नाटक

भारतेन्दु जी की मौलिक कृतियों में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'प्रेमयोगिनी', 'विषस्य विषमोषधम', 'चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'अंधेर नगरी' तथा सती प्रताप हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम योगिनी और पाखण्ड विखंडन में धार्मिक रूढ़ियों और विडम्बनाओं से ग्रस्त समाज के पाखण्ड, आडम्बर, भ्रष्टाचार आदि का नाटकीय आख्यान हुआ है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में ऊपर से सफेदपोश दिखने वाले धर्मात्माओं के साथ ही तत्कालीन देशी नरेशों और मंत्रियों के व्यभिचार की पोल खोली गयी है। अपने युग की धार्मिक स्थिति के प्रति जो तीव्र आक्रोश नाटककार में है, वही उसकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' में प्रस्तुत हुआ है। 'पाखण्ड विखंडन' में हिन्दुओं के सन्त-महन्तों की हीन दशा का चित्रण हुआ है। इस प्रकार धार्मिक पाखण्डों का खण्डन करना ही इन नाटकों का मूल स्वर रहा है।

भारतेन्दु-युग में अंग्रेजों ने बहुत से राजाओं से उनका शासन छीन कर उनका राज्य अपने अधीन कर लिया था। अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा पर गुलामी के भय के द्वन्द्व की परिकल्पना 'विषस्य विषमौषधम' प्रहसन में साकार हो उठी है। देशोद्धार की भावना का संघर्ष भारतेन्दु जी के 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' में घोर निराशा के भाव के साथ प्रस्तुत होता है। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अध:पतन का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है।

रोअहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

भारतेन्दु ने राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए 'अंधेर नगरी' प्रहसन लिखा है। 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा को फांसी दिलाकर नाटककार कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश के कुशासन की समाप्ति होगी। अंग्रेजों के शासन से देश मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' नाटक में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उभरती है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे 'नारी स्वातंत्र्य' के पक्ष विपक्ष के द्वन्द्व को भी प्रस्तुत किया है।

''चन्द्रावली' और 'सती प्रताप' प्रेम की कोमल अभिव्यंजना से अभिभूत नाटक हैं। चन्द्रावली में ईश्वरोन्मुख प्रेम का वर्णन है। 'सती प्रताप' में भी

पति-प्रेम का अनुकरणीय उज्जवल आदर्श है। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में भी प्रेम धारा तथा शृगारिक मोहकता का वातावरण बना रहा है।

अनुदित और रूपान्तरित नाटक

भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के हिंदी अनुवाद भी किए, जिनमें रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विखंडन, प्रबोध-चंद्रोदय, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्रा राक्षस तथा दुर्लभ बन्धु आदि हैं। अंग्रेजी से किए गए अनुवादों में भारतेन्दु की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने उसमें भारतीय वातावरण एवं पात्रों का समावेश किया है। सभी नाटकों में मानव-हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए गीतों की योजना की है। इन नाटकों का अनुवाद केवल हिन्दी का भण्डार भरने की दृष्टि से नहीं किया गया बल्कि हिन्दी नाटकों के तत्त्वों में अपेक्षित परिवर्तन के लिए दिशा-निर्देश करने के उद्देश्य से किया गया। रूपांतरित नाटकों में 'विद्या सुन्दर' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक आते हैं। 'विद्यासुन्दर' में प्रेम विवाह का समर्थन करते हुए भारतेन्दु मां-बाप के आशीर्वाद को अनिवार्य मानते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में सामाजिक विकृतियों से ऊपर उठ कर सत्य के आदर्शों से अनुप्राणित होने का आह्वान किया है।

नाट्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त भारतेन्दु ने 'नाटक' निबन्ध लिख कर नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर-अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना ही नहीं की, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया है। उनके नाटकों में जीवन और कला, सुन्दर और शिव, मनोरंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। भारतेन्दु अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे अद्भुत नेतृत्व-शक्ति से युक्त थे। वे साहित्य के क्षेत्र में प्रेरणा के स्रोत थे। फलतः अपने युग के साहित्यकारों और नाटक तथा रंगमंच की गतिविधियों को प्रभावित करने में सफल रहे। इसके परिणामस्वरूप प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, लाला श्रीनिवास, देवकी नन्दन खत्री आदि बहुसंख्यक नाटककारों ने उनके प्रभाव में नाट्य रचना की। यह भी विचारणीय है कि भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्रप्रधान राजनैतिक आदि सभी कोटियों के नाटक लिखे। इस युग में लिखे गये नाटक परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से विपुल हैं। यहाँ मुख्य धाराओं का परिचय प्रस्तुत है:

(क) पौराणिक धारा–इसकी तीन उपधाराएं–(1) रामचरित सम्बन्धी, (2) कृष्णचरित सम्बन्धी तथा (3) अन्य पौराणिक आख्यानक सम्बन्धी हैं। रामचरित सम्बन्धी नाटकों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1879), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरित्र नाटक' (1891) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (1884), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (1885) और 'कल्पवृक्ष' तथा सूर्यनारायण सिंह कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (1899) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से सम्बन्धी नाटकों में चन्द्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (1887), कार्तिक प्रसाद खत्री-कृत उषाहरण (1892) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न-विजय' (1893) तथा 'रुक्मणी परिणय' (1894) हैं। पौराणिक आख्यानकों से सम्बन्धी गजराजसिंह-कृत 'द्रोपदी हरण' (1882), श्री निवासदास-कृत 'प्रींद चरित्र' (1888), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' (1895) और शालिग्राम लाल-कृत अभिमन्यु (1898) प्रसिद्ध हैं।

(ख) ऐतिहासिक धारा–ऐतिहासिक नाटक-धारा 'नीलदेवी' से प्रारम्भ होती है। ऐतिहासिक नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमर सिंह राठौर' (1895) और राधाकृष्ण दास-कृत 'महाराणा प्रताप' (1896) ने विशेष ख्याति प्राप्त की।

(ग) समस्या-प्रधान धारा–भारतेन्दु ने अपने सामाजिक नाटकों और प्रहसनों में नारी समस्या को जिस ढंग से उठाया था, वहीं उनके मण्डल के सभी नाटककारों पर छाया रहा। प्राचीन आदर्शों के अनुरूप उनमें पतिनिष्ठा की प्रतिष्ठा की गयी और नवीन भावनाओं के अनुरूप, बाल-विवाह-निषेध, पर्दा-प्रथा का विरोध और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया गया। श्री राधाचरणदास-कृत 'दुःखिनी बाला' (1880), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलाकौतुक' (1886), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1913), काशी नाथ खत्री-कृत 'विधवा विवाह' (1899) बाबू गोपालराम गहमरी-कृत 'विद्या विनोद' आदि नाटक

नारी–समस्याओं को केन्द्र–बिन्दु मानकर लिखे गये। इन समस्या–प्रधान नाटकों का मूलस्वर समाज–सुधार है। इस युग में जो तीव्र संघर्ष सामाजिक स्तर पर सुधारवाद की भावना से हो रहा था, वैसा इस काल के नाटकों में नहीं दिखाई देता। इनमें नाटक के नाम पर समस्याओं का वर्णन मात्र हुआ है। पिफर भी इनमें सामाजिक जागरूकता मुख्य हुई है। इसमें संदेह नहीं कि ये अपने इसी स्वरूप में आगे के नाटकों के लिए कड़ी या आधार रहे।

(घ) प्रेम–प्रधान–धारा—रीतिकाल की शृंगारिक प्रवृत्ति भारतेन्दु—युग की कविताओं में ही नहीं नाटकों में भी देखने को मिल जाती है। प्रेम–प्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवास दास–कृत 'रणधीर प्रेममोहनी' (1877), किशोरीलाल गोस्वामी–कृत 'मयंक मंजरी' (1891) और 'प्रणयिनी परिणय' (1890), खड्ग बहादुरमल्ल–कृत 'रति कुसुमायुध' (1885) शालिग्राम शुक्ल–कृत लावण्यवती' सुदर्शन (1892) तथा गोकुलनाथ शर्मा–कृत 'पुष्पवती' (1899) उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन नाटकों में उपदेशों की भी सर्वत्र भरमार है जिनमें समय का सदुपयोग, वेश्या से घृणा, छोटे–बड़े के भेद की व्यर्थता, भाग्यवाद में विश्वास आदि विषयों पर भी उपदेश दिये गये हैं, पिफर भी इन नाटकों की विषय–वस्तु तथा अभिप्राय रोमांटिक हैं।

(च) राष्ट्रीय प्रहसन धारा—राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों की परम्परा 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि द्वारा चलायी गयी थी। उसका मूल कारण सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उपस्थित सक्रांति–काल ही था। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट से नवजागरण का आलोक विकीर्ण हो रहा था। भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने इस जागरण को अभिव्यक्त करने के लिए प्रहसनों को चुना। इस युग में राष्ट्रीय विचारधारा को उजागर करने वाले, खड्गबहादुर मल्ल–कृत 'भारत आरत' (1885), अम्बिका दास व्यास–कृत 'भारत–सौभाग्य' (1887), गोपाल राम गहमरी–कृत 'देश–दशा' (1892), देवकीनन्दन त्रिपाठी–कृत 'भारत हरण' (1899) आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। आलोच्य युग के अनेक सफल प्रहसनों में से बालकृष्ण भट्ट–कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और

'प्रचार बिडम्बना' (1899), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महा अंधेर नगरी' (1893), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुंह मुहासे' (1886), राधाकृष्ण दास-कृत 'देशी कुतिया विलायती बोल' आदि प्रहसनों को विशेष प्रसिद्ध प्राप्त हुई। नवीन वैचारिक आलोक के फलस्वरूप इन प्रहसनों में प्राचीन रूढियों, घिसी हुई परम्पराओं और अंध-विश्वासों पर व्यंग्य किया गया है तथा समाज के महंतों और कुटिल जनों पर प्रहार किये गये हैं।

आलोच्य युग के नाटक साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस युग के नाटक विषयवैविध्य में पूर्ण हैं। भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित इस संक्रांति काल में अनेक युग प्रश्नों यथा-कर, आलस्य, पारस्परिक फूट, मद्यपान, पाश्चात्य-सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, पाखंड, छुआ-छूत, आर्थिक शोषण, बाल विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या गमन आदि को नाटकों का विषय बनाया गया। ऐसा नहीं है कि किसी एक नाटक में इनमें से एक या दो बातों को लिया गया हो, पर अवसर पाते ही सभी बातें एक ही नाटक में गुम्पिफत हुई हैं। इससे कथानक में भले ही शिथिलता आ गई हो किंतु जनजीवन की विसंगति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। नाटकों में प्रधान रूप से समाज में व्याप्त अशांति और व्यग्रता का चित्रण हुआ है। नाटककार अपने युग के प्रति बड़े सजग दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भारत का अध:पतन अपनी आंखों से देखा था। चारों ओर रूढ़िग्रस्त, निष्क्रिय और मानसिक दासता में जकड़ी हुई जनता, पाश्चात्य सभ्यता का दूषित प्रभाव, भ्रष्ट राजनीति, हृदयविदारक आर्थिक अवस्था आदि ने उनके हृदय में सुधारवादी और राष्ट्रीय विचारों का उद्रेक किया। फलस्वरूप नाटकों में राष्ट्रीय जीवन को उन्नत बनाने के अनेक उपाय संकेतित हुए हैं। इनकी वाणी में नवोदित भारत की आकांक्षाओं का स्वर प्रतिध्वनित होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन नाटक संस्कृत-नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए लिखे गये। साथ ही पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का प्रभाव भी इन पर लक्षित होता है। पाश्चात्य ट्रेजडी की पद्धति पर दु:खान्त नाटक लिखने की परम्परा भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक से प्रारम्भ हुई। इस युग के नाटक एक ओर पारसी कम्पनियों की अश्लीलता और फूहड़पन की प्रतिक्रिया थे, तो दूसरी ओर पाश्चात्य और पूर्व की सभ्यता की टकराहट के परिणाम। इसलिए उनमें अविचारित पुरानापन या अविचारित नयापन कहीं नहीं है। अभिनयता की दृष्टि

से ये नाटक अत्यधिक सफल हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगी स्वयं नाटकों में भाग लेते थे और हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। नाटकों के माध्यम से जनता को वे जागरण का और आने वाले युग का सन्देश देना चाहते थे। इसी कारण भारतेन्दु-काल में विरचित ये नाटक सुदृढ़ सामाजिक पृष्ठभूमि पर अवस्थित थे।

अनुदित प्रस्तुत संदर्भ में भारतेन्दु युगीन, नाटकों पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। इस युग में संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए गए। अनुवाद की परम्परा भी भारतेन्दु से ही प्रारम्भ हुई थी जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उनके अतिरिक्त भी अनेक लेखक संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटक अनुदित करने में संलग्न रहे।

भारतेन्दु-युगीन नाटककारों की अनुदित रचनाएं केवल उनकी अनुवाद वृत्ति का ही दिग्दर्शन नहीं कराती, वरन् सामाजिक जीवन के उन्नयन के लक्ष्य को भी प्रकट करती हैं। अनुवादक उन रचनाओं के माध्यम से वस्तुतः एक नाट्यादर्श प्रस्तुत करना चाहते थे और उन नैतिक तत्त्वों के प्रति भी जागरूक थे जो नव-जागरण में सहायक थे। इस प्रकार भारतेन्दु-युगीन इन नाटकों की विषय वस्तु में वैविध्य मिलता है। रामायण और महाभारत के प्रसंगों को लेकर पौराणिक नाटक बहुतायत से लिखे गये। इसी संदर्भ में ऐसे नाटकों की संख्या भी पर्याप्त कही जा सकती है जो नारी के सतीत्व और पतिव्रता के आदर्श से सम्बन्धित है। सामाजिक नाटकों में भी विषयवस्तु का वैविध्य और विस्तार मिलता है। इस काल में मुख्य रूप से अनमेल विवाह, विधवा विवाह, बहु विवाह, मद्यपान, वेश्या गमन, नारी स्वातंत्रय आदि समस्याओं पर विचार किया है। किन्तु युगीन सन्दर्भ के प्रति इस प्रकार की जागरूकता के बावजूद अनुभूति की तीव्रता और नाट्य शिल्प की विशिष्टता के अभाव में इस युग का नाट्य साहित्य कोई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक देन नहीं दे सका। फिर भी नाट्य रचना और रंगमंच के लिए जैसा वातावरण इस युग में बन गया था, वैसा हिन्दी साहित्य के किसी काल में सम्भव नहीं हुआ।

द्विवेदीयुगीन नाटक

भारतेन्दु के अनन्तर साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ, उसके प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। हिन्दी नाटकों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान भारतेन्दु की तुलना में इतना नगण्य है

कि नाटक के क्षेत्र में द्विवेदी–युग को अलग से स्वीकार करना और महत्त्व प्रदान करना औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। भारतेन्दु के अवसान के साथ नाटक के ह्रास के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अपने युग की समस्याओं को नाट्यरूप प्रदान करने का जो अदम्य साहस भारतेन्दु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था उसके दर्शन द्विवेदी–युग में नहीं होते। इसके कई कारण थे। प्रथम तो हिन्दी के नाटककारों में नाटक के सूक्ष्म नियमों एवं विधियों की योजना की क्षमता न थी। दूसरे, नाटकों के इस उदयकाल की सामाजिक स्थिति विक्षोभ पैदा करने वाली थी। इस प्रवृति ने कुछ कर बैठने की प्रेरणा तो दी किन्तु भावों और विचारों को घटनाओं के साथ कलात्मक ढंग से नियोजित करने के लिए मानसिक सन्तुलन नहीं प्रदान किया। तीसरे, आर्य समाज के आन्दोलन के लेखकों पर सुधारवादी जीवन दृष्टि और शास्त्रार्थ शैली का प्रभाव पड़ा जो निश्चय ही नाटकों के कलात्मक विकास में बाधक हुआ। चौथे, पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अंधानुकरण के कारण भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी साहित्य में प्रहसनों की प्रवृत्ति भी पनप उठी। प्रहसनों की वृद्धि ने साहित्यिक एवं कलात्मक अभिनयपूर्ण नाटकों की रचना में व्याघात उपस्थित किया। पांचवें, द्विवेदी–युग नैतिकता और सुधार का युग था। नैतिकता और आदर्श के प्रतिस्थापन में उनकी दृष्टिकोण संस्कृत के नाटककारों की भांति उदारवादी था अतएव भारतेन्दु–युग की नवीनता परवर्ती युग के स्वभाव के अनुकूल न थी। अतः कठोर नीतिवादी अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद के फलस्वरूप द्विवेदी–युग, भारतेन्दु–युग की परम्परा को अग्रसर नहीं कर सका।

उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप आलोच्य युग में मौलिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है अनुवाद–कार्य पर अधिक बल रहा है। मौलिक नाटकों में साहित्य की दो धाराएं प्रमुख हैं–

(1) साहित्यिक नाटक (शौकिया रंगमंच),

(2) मनोरंजन प्रधान नाटक (व्यावसायिक पारसी रंगमंच)।

साहित्यिक नाट्य धारा को विकसित करने के उद्देश्य से अनेक नाटक मंडलियों की स्थापना की गई जेसे प्रयाग की 'हिन्दी नाटक मण्डली', कलकत्ते की 'नागरी नाटक मंडल' मुजफ्फरनगर की 'नवयुवक समिति' आदि। इनमें 'हिन्दी नाट्य–समिति' सबसे अधिक पुरानी थी। सन् 1893 ई. में यह 'रामलीला नाटक मंडली' के रूप में स्थापित हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख थे–पंडित माधव शुक्ल जो स्वयं अच्छे अभिनेता और रंगकर्मी थे और जिन्होंने राष्ट्रीयता चेतना प्रचार–प्रसार के लिए नाटकों को सशक्त माध्यम बनाया था। किन्तु हिन्दी

रंगमंच समुचित साधन और संरक्षण के अभाव में तथा जनता की सस्ती रुचि के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाया। फलतः नाटक का साहित्यिक रूप ही सामने आया। संख्या की दृष्टि में आलोच्यकाल में लिखे गये नाटक कम नहीं हैं, किन्तु मौलिक नाटकों के नाम पर ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों को ही नाटकों में या कथोपकथन में परिवर्तित कर दिया गया। अध्ययन की सुविधा के लिए आलोच्य युग के नाटकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक उपादानों पर रचित नाटक, रोमांचकारी नाटक, प्रहसन और अनुदित नाटक।

पौराणिक नाटक

हृदय की वृत्तियों की सत्त्व की ओर उन्मुख करने का प्रयास भारतेन्दु-युग के नाटकों में बहुत पहले से होता आ रहा था। द्विवेदी-युग से इन वृत्तियों के उत्कर्ष के लिए पौराणिक आख्यानों का निःसंकोच ग्रहण किया गया। आलोच्य युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग देखने को मिलते हैं—कृष्णचरित-सम्बन्धी, रामचरित सम्बन्धी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), ब्रज नन्दन सहाय-कृत 'उद्धव' (1909), नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (1910), शिव नन्दन सहाय-कृत 'सुदामा।' (1907) और बनवारी लाल-कृत 'कृष्ण तथा कंसवध' (1910) को विशेष ख्याति प्राप्त है। रामचरित-सम्बन्धी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'जनक बड़ा' (1906) गिरधर लाल-कृत 'रामवन यात्रा' (1910) और गंगाप्रसाद-कृत 'रामाभिषेक' (1910), नारायण सहाय-कृत 'रामलीला' (1911), और राम गुलाम लाल-कृत 'धनुषयज्ञ लीला (1912), उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक घटनाओं से सम्बन्धित नाटकों में महावीर सिंह का 'नल दमयन्ती' (1905), सुदर्शनाचार्य का 'अनार्थ नल चरित' (1906), बांके बिहारी लाल का 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट का 'बेणुसंहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1907) और हनुमंतसिंह का 'सती चरित' (1910), शिवनन्दन मिश्र का 'शकुन्तला' (1911), जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय (1912) बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' (1915), माधव शुक्ल का 'महाभारत-पूर्वार्द्ध (1916), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (1917) तथा माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध (1918) महत्त्वपूर्ण हैं।

इन नाटकों का विषय पौराणिक होते हुए भी पारसी रंगमंच के अनुरूप मनोरंजन करने के लिए हास-परिहास, शोखी और छेड़छाड़ के वातावरण का ही आधार ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों के साथ ही इस काल में कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए जिनमें—गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जय माल' (1903), शालिग्राम कृत 'पुरु विक्रम' (1905), वृन्दावन लाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल' (1909), कृष्ण प्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त' (1915), हरिदास माणिक-कृत 'संयोगिता हरण' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1915) और परमेश्वरदास जैन का 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918) महत्त्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में प्रसाद के 'राज्यश्री' नाटक को छोड़कर और किसी भी नाटक में इतिहास-तत्त्व की रक्षा नहीं हो सकी।

सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक नाटक

द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की सामाजिक-राजनीतिक और समस्यापरक नाटकों की प्रवृत्ति का अनुसरण भी होता रहा है। इस धारा के नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र-कृत 'भारत दुर्दशा' (1903) भगवती प्रसाद-कृत 'वृद्ध विवाह' (1905), जीवानन्द शर्मा-कृत 'भारत विजय' (1906), रुद्रदत शर्मा-कृत 'कंठी जनेऊ का विवाह' (1906), कृष्णानन्द जोशी-कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915), मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (1915) आदि कई नाटक गिनाए जा सकते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व न रखते हुए भी ये नाटक, समाज सुधार और नैतिकवादी जीवन दृष्टि से युक्त हैं।

व्यवसायिक दृष्टि से लिखे नाटक

इस युग में पारसी रंगमंच सक्रिय रहा जिसके लिए निरन्तर रोमांचकारी, रोमानी और धार्मिक नाटक लिखे जाते रहे। पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का प्रसार भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। इस काल में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी', 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'एल्प्रफेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'शेक्सपीयर थिटेट्रिकल कम्पनी', 'जुबिली कम्पनी' आदि कई कम्पनियां 'गुलबकावली', 'कनकतारा', 'इन्दर सभा', 'दिलफरोश', 'गुल

फरोश', 'यहूदी की लड़की', जैसे रोमांचकारी नाटक खेलती थीं। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियाँ रादक', हुसैन मियाँ 'जर्राफ', मुन्शी विनायक प्रसाद 'तालिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद बेताब', आगा मोहम्मद हश्र' और राधेश्याम 'कथावाचक' उल्लेखनीय हैं। इनमें राधेश्याम कथावाचक और 'बेताब' ने सुरुचिपूर्ण धार्मिक-सामाजिक नाटक भी लिखे, किन्तु पारसी रंगमंच का सारा वातावरण दूषित ही रहा, जिसने द्विवेदी-युग में नाट्य लेखन की धारा को कुंठित कर दिया।

प्रहसन

इस काल में अनेकानेक स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे गये। अधिकांश प्रहसन लेखकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है, इसलिए वे अमर्यादित एवं उच्छृंखल हैं। प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट एवं जी. पी. श्रीवास्तव के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के 'मिस अमेरिका', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लबड़धोंधों' आदि शिष्ट-हास्यपूर्ण प्रहसन हैं। जी.पी. श्रीवास्तव ने छोटे-बड़े अनेक प्रहसन लिखे हैं। इन प्रहसनों में सौष्ठव और मर्यादा का अभाव है।

अनुदित नाटक

मौलिक नाटकों की कमी द्विवेदी-युग में अनुदित नाटकों द्वारा पूरी की गई। सामाजिक तथा राजनीतिक अशान्ति के इस वातावरण में लेखकों को हिन्दी नाटक-साहित्य की हीनता स्पष्ट दिखाई देती थी। अतः कुछ थोड़े उदात्तवादी परम्परा के लोगों का ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर गया, परन्तु अधिकांश का अध्ययन बंगला तथा पाश्चात्य नाटकों की ओर ही अधिक था।

संस्कृत से लाला सीताराम ने 'नागानन्द', 'मृच्छकटिक', 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', मालती माधव' और 'मालविकाग्निमित्र' और सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। अंग्रेजी से शेक्सपीयर के नाटकों 'हेमलेट', 'रिचर्ड' द्वितीय', 'मैकवेथ' आदि का हिन्दी में अनुवाद भी लाला सीताराम ने किया। फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार 'ओलिवर' के नाटकों को लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेजी के माध्यम से अनुदित किया।

बंगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने 'बनवीर' 'बभ्रुवाहन', 'देश दशा', 'विद्याविनोद', 'चित्रांगदा'

आदि बंगला नाटकों के अनुवाद किये। बंगला नाटकों के अन्य समर्थ अनुवादक रामचन्द्र वर्मा तथा रूप नारायण पांडेय हैं। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन गोस्वामी, ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर तथा क्षीरोद प्रसाद के नाटकों का अनुवाद किया। पांडेय जी के अनुवाद बड़े सफल हैं, उनमें मूल नाटकों की आत्मा को अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार भारतेन्दु-युग तथा प्रसाद-युग को जोड़ने वाले बीच के लगभग 25-30 वर्षों में कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता। भले ही प्रसाद-युगीन नाटककारों की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्य कृतियों में जो वैशिष्ट्य आता है, वह उन्हें द्विवेदी-युग के लेखकों से पृथक कर देता है। द्विवेदी-युग में हिन्दी रंगमंच विशेष सक्रिय नहीं रहा। इस युग में बद्रीनाथ भट्ट ही अपवादस्वरूप एक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंने नाटकीय क्षमता का परिचय दिया है, किन्तु इनके नाटक भी पारसी कम्पनियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उनमें उत्कृष्ट साहित्यिक तत्त्व का अभाव है।

प्रसाद-युगीन नाटक

प्रसाद का आगमन नाट्य रचना में व्याप्त गतिरोध को समाप्त करने वाले युग-विधायक व्यक्ति के रूप में हुआ। उन्होंने एक प्रवर्तक के रूप में कविता, नाटक तथा निबंध आदि सभी क्षेत्रों में युग का प्रतिनिधित्व किया। डॉ. गुलाबराय का कहना है, 'प्रसाद जी स्वयं एक युग थे।' उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रांति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग जितेन्द्र लाल के नाटकों को भूल गये। वर्तमान जगत के संघर्ष और कोलाहलमय जीवन से ऊबा हुआ उनका हृदयस्थ कवि उन्हें स्वर्णिम आभा से दीप्त दूरस्थ अतीत की ओर ले गया। उन्होंने अतीत के इतिवृत्त में भावना का मधु और दार्शनिकता का रसायन घोलकर समाज को एक ऐसा पौष्टिक अवलेह दिया जो ह्रास की मनोवृत्ति को दूर कर उसमें एक नई सांस्कृतिक चेतना का संचार कर सके। उनके नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की सी ऐतिहासिकता और रवि बाबू की-सी दार्शनिकतापूर्ण भावुकता के दर्शन होते हैं।

प्रसाद की आरम्भिक नाट्य कृतियां—सज्जन (1910), 'कल्याणी परिणय (1912), प्रायश्चित (1912), करुणालय (1913) और राज्यश्री (1918), द्विवेदी-युग की सीमा के अंतर्गत आती हैं। प्रसाद के इन नाटकों में उनका

परम्परागत रूप तथा प्रयोग में भटकती हुई नाट्य दृष्टि ही प्रमुखता से उभर कर सामने आती है। नाटक रचना का प्रारम्भिक काल होने के कारण इन कृतियों में प्रसाद की नाट्य कला का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है, वह अपनी दिशा खोज रही है। यह दिशा उन्हें विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926) स्कन्दगुप्त (1928), एक घूँट (1930), चन्द्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) में प्राप्त हुई। इन नाटकों में प्रसाद जी ने अपनी गवेषणा शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया।

'सज्जन' का कथानक महाभारत की एक घटना पर आधारित है। इस नाटक में प्रसाद जी ने परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भारतेन्दु-कालीन नाट्य-प्रणाली को अपनाया है। 'कल्याणी–परिणय' भी प्रसाद का प्रारम्भिक प्रयास है, जिसका अंतर्भाव उन्होंने बाद में 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के रूप में किया है। 'करुणालय' बंगला के 'अमित्राक्षर अरिल्ल छंद' की शैली पर लिखा गया गीति-नाट्य है। 'प्रायश्चित' हिन्दी का प्रथम दुखांत मौलिक रूपक है। शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रसाद ने इसमें सर्वप्रथम पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को अपनाने का प्रयास किया है। सही अर्थों में 'राज्यश्री' प्रसाद का प्रथम उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटक है। 'विशाख' प्रसाद की पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटकों में एक विभेदक रेखा है। इनका कथानक साधारण होते हुए भी देश की तत्कालीन राजनैतिक धार्मिक और सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति से ओतप्रोत है यद्यपि प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक ही हैं परन्तु इतिहास की पीठिका में वर्तमान की समस्याओं को वाणी देने का विचार प्रसाद ने सर्वप्रथम इसी नाटक में व्यक्त किया है। भूमिका में वे लिखते हैं मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयास किया है और वह वर्तमान स्थिति परतंत्र भारत के राजनैतिक सामाजिक परिवेश से जुड़ी हुई थी। अपनी सत्ता को स्थानीय बनाये रखने के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयों में फूट डालने के लिए अपनाये गये साम्प्रदायिकता, प्रांतीयतावाद के हथकण्डे प्रसाद से छिपे नहीं थे। अतः इतिहास की पीठिका पर उन्होंने वर्तमान के इन प्रश्नों को यथार्थ की दृष्टि से उठाते हुए समन्वयवादी आदर्श समाधान प्रस्तुत किये। युगीन साम्प्रदायिक प्रभावों को आत्मसात करते हुए प्रसाद ने अपने नाटकों में ब्राह्मण- ,बौद्ध, धार्मिक संघर्षों को रूपायित किया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक आर्यों और नागजाति तथा आर्य-नाग-संघर्ष की पृष्ठभूमि में रचा गया है। 'अजातशत्रु' में आर्य जनपदों

का पारस्परिक संघर्ष परोक्ष रूप में युगीनसाम्प्रदायिक संघर्षों का ही प्रतिरूप है। इस प्रकार अपनी इन प्रौढ़ कृतियों में प्रसाद ने जातीय, क्षेत्रीय तथा वैयक्तिक भेदों को मिटाकर व्यापक राष्ट्रीयता का आह्वान किया है। इस दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कामना' और 'एक घूंट' भिन्न कोटि के नाटक हैं। इनकी कथावस्तु ऐतिहासिक नहीं है। कथ्य की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं। इनमें प्रसाद ने भौतिक विलासिता का विरोध किया है। 'कामना' में विभिन्न भावों को पात्र रूप में प्रस्तुत किया गया है, इसलिए उसे प्रतीक नाटक कहा जा सकता है। 'एक घूट' एकांकी है और उसमें प्रसाद ने यथार्थ और आदर्श की स्थिति, जीवन का लक्ष्य और स्त्री-पुरुष की प्रेम-भावना के सामंजस्य को चित्रित किया है। 'ध्रुवस्वामिनी प्रसाद की अन्तिम कृति है। अन्य नाटकों में प्रसाद विशेष रूप से राजनैतिक प्रश्नों के यथार्थ से जूझते रहे हैं, परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में सामाजिक जीवन की वर्तमान युगीन नारी समस्या पर बौद्धिक विचार विमर्श कर यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है। नारी-जीवन की इस सामाजिक समस्या के प्रति प्रसाद का आकर्षण वर्तमान नारी-आन्दोलन का ही परिणाम है। आज के समाज में नारी की स्थिति, दासता की श्रृंखला से उसकी मुक्ति, विशिष्ट परिस्थितियों में पुर्नविवाह की समस्या को बड़े साहस, संयम, तर्क और विचार एवं धर्म की पीठिका पर स्थित करके इस नाटक में सुलझाया गया है।

स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने हिन्दी नाटक की प्रवाहमान् धारा को एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा किया। वे एक सक्षम साहित्यकार थे। उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध ममता थी। उन्हें विश्वास था कि भारतीय संस्कृति ही मानवता का पथ प्रशस्त कर सकती है। इसी कारण अपने नाटकों द्वारा प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के भव्य रूप की झांकी दिखाकर राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ अपने देश के अधुनातन निर्माण की पीठिका भी प्रस्तुत की है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की स्मृति को भारत की सोई हुई जनता के हृदय में जगाया था, प्रसाद ने नाटकों में उसी संस्कृति के उदात्त और मानवीय रूप पर अपनी भावी संस्कृति के निर्माण की चेतना प्रदान की। पर यह समझना भी भूल होगी कि उन्होंने केवल भारतीय संस्कृति के गौरव-गान के लिए ही नाटकों की रचना की। वस्तुतः उनका नाट्य साहित्य ऐतिहासिक होते हुए भी सम-सामयिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं है, वह प्रत्यक्ष को लेकर मुखर है और उनमें लोक-संग्रह का प्रयत्न है, राष्ट्र के उद्बोधन की आकांक्षा है।

प्रसाद से पूर्व साहित्यिक नाटकों का अभाव था। जिस समय भारतेन्दु ने नाटक-रचना की शुरुआत की, उनके सामने पहले से निश्चित, प्रतिष्ठित हिन्दी का कोई रंगमंच न था, अतः उन्होंने संस्कृत, लोकनाटक एवं पारसी रंगमंच शैली की विभिन्न रंगपरम्पराओं को सुधारवादी यथार्थ कथ्य के अनुरूप मोड़ देने का स्तुत्य प्रयास किया। प्रसाद के युग तक नाटकों में पारसी रंगशिल्प का स्वरूप निर्धारित हो चुका था, अतः पारसी रंगमंच की अतिरंजना, चमत्कार, फूहड़ता, शोखभाषा, चुलबुले संवाद, शेरोशायरी के घटियापन की प्रतिक्रिया में प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक, राष्ट्रीय नाटकों की रचना की। दार्शनिकता, सांस्कृतिक बोध, उदात्त कल्पना, काव्यमय अलंकृति, दुरूह भाषा का विन्यास उनकी उपलब्धि था। फिर भी साहित्यिक और कलात्मक वैशिष्ट्य होते हुए भी प्रसाद में नाट्य शिल्प के अनेक दोष दिखाई देते हैं। एक तथ्य यह है कि प्रकारान्तर से उन्होंने अतिरंजना की रूढ़ि को किंचित परिवर्तन के साथ ग्रहण किया। यह परिवर्तन प्रमुखतः शेक्सपीयर के जीवन-बोध, एवं रंगविधान के प्रभावस्वरूप ही आया था। शेक्सपीयर का रोमानी बोध एवं नियतिवाद संभवतः भारतीय युगीन परिवेश के कारण भी स्वतः उद्भूत होकर प्रसाद की चेतना पर छा गया था। इन्हीं कारणों से प्रसाद मूलतः कवि, दार्शनिक तथा संस्कृति के जागरूक समर्थक थे। जीवन दृष्टि के अनुरूप उन्होंने अपने नाटकों की रचना स्वच्छन्दतावादी नाट्य-प्रणालियों को आधार बनाकर कल्पना, भावुकता, सौन्दर्य-प्रेम, अतीत के प्रति अनुराग, उच्चादर्शों के प्रति मोह तथा शैली शिल्प की स्वच्छन्दता आदि को ग्रहण किया। किन्तु ऐसे साहित्यिक नाटकों के अनुरूप रंगमंच हिन्दी में नहीं था इसलिए अन्य सभी दृष्टियों से सफल होते हुए भी प्रसाद के नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल नहीं हो सके। इधर हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में नए प्रयोग हो रहे हैं जिससे आज के रंगकर्मी, प्रसाद के नाटकों को चुनौती के रूप में स्वीकार करने लगे हैं। उनके नाटकों को इसीलिए सर्वथा अभिनेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें से कुछ छुटपुट रूप से उनके जीवन काल में ही खेले गये थे। फिर भी आकार की विपुलता, दृश्यों की भरमार, चरित्र-बाहुल्य और विलक्षण दृश्य-योजना उनके नाटकों को रंगमंच के लिए अति कठिन बना देती है।

आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य के विकास में जयशंकर प्रसाद के बाद हरिकृष्ण प्रेमी को गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता है। प्रसाद-युग में 'प्रेमी' ने 'स्वर्ण-विहान' (1930), 'रक्षाबन्धन' (1934), 'पाताल विजय' (1936), 'प्रतिशोध' (1937), 'शिवासाधना' (1937) आदि नाटक लिखे हैं। इनमें

'स्वर्ण विहान', गीतिनाट्य है और शेष गद्य नाटक। प्रसाद ने जहाँ प्राचीन भारत का चित्रण करते हुए सत्य, प्रेम, अहिंसा व त्याग का संदेश दिया, वहाँ प्रेमी जी ने मुस्लिम-युगीन भारत को नाट्य-विषय के रूप में ग्रहण करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। देश के उत्थान और संगठन के लिए इनके नाटक राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने वाले हैं। प्रेमी जी प्रसाद की परम्परा के अनुयायी हैं। परन्तु उन्होंने प्रसाद जी की भांति अपने नाटकों को साहित्यिक और पाठ्य ही न रखकर उनको रंगमंच के योग्य भी बनाया है। साहित्यिकता और रंगमंचीयता का समन्वय है उनके नाटकों की विशेषता है। उन्होंने संस्कृत नाट्य परम्परा का अनुसरण न करके पाश्चात्य नाट्यकला को अपनाया है। इन नाटकों के कथानक संक्षिप्त एवं सुगठित, चरित्र सरल एवं स्पष्ट, संवाद पात्रानुकूल एवं शैली सरल व स्वाभाविक है।

उपर्युक्त प्रमुख नाट्य कृतियों के अतिरिक्त आलोच्य युग में धार्मिक-पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना अत्यधिक हुई। इन नाटकों में कलात्मक विकास विशेष रूप से नहीं हुआ, किन्तु युग की नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर कई नाटककारों ने अपनी रचनाओं में नवीन दृष्टिकोण को अपनाया। धार्मिक नाट्यधारा के अन्तर्गत कृष्ण चरित-राम चरित, पौराणिक तथा अन्य सन्त महात्माओं के चरित्रों को लेकर रचनाएं प्रस्तुत की गई। इस धारा की उल्लेखनीय रचनाएं हैं—अम्बिकादत्त त्रिपाठी कृत 'सीय-स्वयंवर' (1918), रामचरित उपाध्याय-कृत 'देवी द्रौपदी' (1921), राम नरेश त्रिपाठी कृत 'सुभद्रा' (1924) तथा 'जयन्त' (1934), गंगाप्रसाद अरोड़ा-कृत 'सावित्री सत्यवान' गौरीशंकर प्रसाद-कृत- 'अजामिल चरित्र नाटक' (1926), पूरिपूर्णानन्द वर्मा-कृत 'वीर अभिमन्यु नाटक' (1927), वियोगी हरि-कृत (1925), 'छद्मयोगिनी' (1929) और 'प्रबुद्ध यामुन' अथवा 'यामुनाचार्य चरित्र' (1929), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी-कृत 'तुलसीदास' (1934) लक्ष्मीनारायण गर्ग-कृत' श्री कृष्णावतार', किशोरी दास वाजपेयी-कृत 'सुदामा' (1934), हरिऔध-कृत 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' (1939), सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्त्तव्य' (1936) आदि। राष्ट्रीय चेतना की प्रधानता होने के कारण धार्मिक नाटकों में भी राष्ट्रीयता का चित्रण हुआ। नाटकों में अति-नाटकीय और अति-मानवता का बहिष्कार किया गया है। प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं को पूर्ण रूप से हटाने की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार की रचनाओं में नाटककारों ने प्राय: कथावस्तु प्राचीन साहित्य से लेकर उसी पुराने

ढांचे में नई बुद्धवादी धाराओं तथा विचारधाराओं के अनुसार आधुनिक युग की समस्याओं को उनमें फिट कर दिया है।

प्रसाद युग में इतिहास का आधार लेकर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रस्तुत की गई। इस समय के नाटककारों की दृष्टि इतिहास की ओर विशेष रूप से गई क्योंकि यह युग पुनरुत्थान और नवजागरणवादी प्रवृत्तियों से अनुप्राणित था। फलतः जन साधारण में अपने गौरवपूर्ण इतिहास तथा अपनी महान सांस्कृतिक चेतना का संदेश देना इन नाटककारों ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस काल की गौण ऐतिहासिक कृतियों में गणेशदत्त इन्द्र-कृत 'महाराणा संग्रामसिंह' (1911), भंवरलाल सोनी-कृत 'वीर कुमार छत्रसाल' (1923), चन्द्रराज भण्डारी-कृत 'सम्राट' अशोक (1923) ज्ञानचन्द्र शास्त्री-कृत 'जयश्री' (1924) प्रेमचन्द-कृत 'कर्बला' (1928), जिनेश्वर प्रसाद भायल-कृत 'भारत गौरव' अर्थात् 'सम्राट चन्द्रगुप्त' (1928) दशरथ ओझा-कृत 'चित्तौड़ की देवी' (1928) और प्रियदर्शी सम्राट अशोक (1935), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द-कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा' (1929), चतुरसेन शास्त्री-कृत 'उपसर्ग' (1929) और 'अमर राठौर' (1933) उदयशंकर भट्ट-कृत 'विक्रमादित्य' (1929) और 'दाहर अथवा सिंधपतन' (1943), द्वारिका प्रसाद मौर्य-कृत 'हैदर अली या मैसूर-पतन' (1934), धनीराम प्रेम-कृत 'वीरांगना पन्ना' (1933) जगदीश शास्त्री-कृत 'तक्षशिला' (1937) उमाशंकर शर्मा-कृत 'महाराणा प्रताप' आदि को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। इन नाटककारों ने आदर्शवादी प्रवृत्ति के बावजूद स्वाभाविकता का बराबर ध्यान रखा और कल्पना और मनोविज्ञान की सहायता से प्राचीन काल की घटनाओं और चरित्रों को स्वाभाविकता के साथ चित्रित करने की चेष्टा की। पुरानी मान्यताओं तथा अतिलौकिक वर्णनों के स्थान पर वास्तविक कथा-वस्तु को प्रयोग में लाया गया है। इन चरित्रों में संघर्ष का भी समावेश हुआ। सारांश यह है कि इन नाटकों के कथानक महान हैं, चरित्र सभी दार्शनिक और आदर्शवादी हैं, शैली कवित्वपूर्ण और अतिरंजित है और नाटकों का वातावरण संगीत और काव्यपूर्ण है। ये नाट्य-कृतियां हिन्दी नाट्य-कला विकास का एक महत्त्वपूर्ण चरण पूरा करती हैं।

इस युग में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान तो रहा ही है, इसके अतिरिक्त सामाजिक नाटकों की रचना भी बहुतायत से हुई है। सामाजिक नाटकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'अत्याचार का परिणाम' (1921) और 'हिन्द विधवा नाटक' (1935), 'प्रेमचन्द-कृत

'संग्राम' (1922) ईश्वरी प्रसाद शर्मा-कृत दुर्दशा (1922), सुदर्शन-कृत 'अंजना' (1923), 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' (1929), और 'भयानक' (1937), गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत 'कंजूस की खोपड़ी' (1923) और 'अंगूर की बेटी' (1929), बैजनाथ चावला-कृत 'भारत का आधुनिक समाज' (1929), नर्मदेश्वरी प्रसाद 'राम'-कृत 'अछूतोद्धार' (1926), छविनाथ पांडेय-कृत 'समाज' (1929), केदारनाथ बजाज-कृत 'बिलखती 'विधवा' (1930), जमनादास मेहरा-कृत 'हिन्दू कन्या' (1932), महादेव प्रसाद शर्मा-कृत 'समय का फेर', बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत 'विचित्र विवाह' (1932) और 'समाज सेवक' (1933) रघुनाथ चौधरी-कृत 'अछूत की लड़की या समाज की चिनगारी' (1934), महावीर बेनुवंश-कृत 'परदा' (1936), बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'चुम्बन' (1937) और 'डिक्टेटर' (1937), रघुवीर स्वरूप भटनागर-कृत 'समाज की पुकार' (1937), अमर विशारद-कृत 'त्यागी युवक' (1937) चन्द्रिका प्रसाद सिंह-कृत 'कन्या विक्रय या लोभी पिता' (1937) आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों—बाल विवाह, विधवा-विवाह का विरोध, नारी स्वतंत्रता आदि का चित्रण करते हुए उनके उन्मूलन का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इन नाटकों में समुन्नत समाज की स्थापना का प्रयास किया गया है, भले ही नाट्यकला की दृष्टि से ये नाटक उच्चकोटि के नहीं हैं।

आलोच्य युग में शृंगार-प्रधान नाटकों का प्रायः ह्रास हो गया था। थोड़ी बहुत प्रतीकवादी परम्परा चल रही थी, किन्तु उसकी गति बहुत धीमी थी। प्रतीक का महत्त्व वस्तुतः सांकेतिक अर्थ में है। इस अवधि में प्रसाद की 'कामना' के पश्चात् सुमित्रानन्दन पन्त-कृत ज्योत्स्ना' (1934) इस शैली की उल्लेखनीय रचना है। इसमें पंत की रंगीन कल्पनामयी झांकी का मनोरम स्वरूप व्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त एक नाट्य-धारा व्यंग्य-विनोद प्रधान नाटकों को लेकर थी। इसको प्रमुख रूप से समाज की त्रुटियों, रूढ़िगत विचारों अथवा किसी व्यक्ति विशेष की विलक्षण प्रवृत्तियों पर चोट करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार से किसी भी समस्या पर किया हुआ प्रहार ऊपर से तो साधारण सा प्रतीत होता है। किन्तु तनिक भी ध्यान देने पर उसके पीछे छिपा हुआ अर्थ-गाम्भीर्य स्पष्ट हो जाता है। हास्य-व्यंग्य प्रधान नाटकों में जी.पी. श्रीवास्तव का 'दुमदार आदमी' (1919) गड़बड़ झाला (1919), नाक में दम उर्फ जवानी बनाम बुढ़ापा उर्फ मियां का जूता मियां के सर (1926) भूलचूक

(1928), चोर के घर छिछोर (1933) चाल बेढव (1934), साहित्य का सपूत (1934), स्वामी चौखटानन्द (1936) आदि प्रसिद्ध हैं। जनता में इन नाटकों का खूब प्रचार हुआ परन्तु रस और कला की दृष्टि से ये निम्नकोटि की रचनाएं हैं। इस युग में कतिपय गीति-नाटकों की भी रचना हुई। इसमें प्रमुख हैं—मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (1928) हरिकृष्ण प्रेमी-कृत 'स्वर्ण विहान' (1937) भगवतीचरण वर्मा-कृत 'तारा', उदयशंकर भट्ट का मत्स्यगंधा (1937) और विश्वामित्र (1938) आदि उल्लेखनीय है। 'स्वर्ण विहान' में जीवन की बहिरंग व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और अन्य में आन्तरिक क्रिया-व्यापारों का चित्रण है। भाव प्रधान होने के कारण इन नाटकों में कार्य-व्यापार तथा घटना चक्र की कमी मिलती है। भावातिरेक ही भाव-नाट्यों की प्राणभूत विशेषता है।

इस प्रकार प्रसाद-युग हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में नवीन क्रांति लेकर आया। इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना का सजीव चित्रण हुआ है, किन्तु रंगमंच से लोगों की दृष्टि हट गयी थी। जो नाटक इस युग में रचे गये उनमें इतिहास तत्त्व प्रमुख था और रंगमंच से कट जाने के कारण वे मात्र पाठ्य नाटक बनकर रह गए। कथ्य के स्तर पर वे देश की तत्कालीन समस्याओं की ओर अवश्य लिखे गये किन्तु उनमें आदर्श का स्वर ही प्रमुख रहा। फिर भी इतिहास के माध्यम से अपने युग की यथार्थ समस्याओं को अंकित करने में वे पीछे नहीं रहे।

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक अधिकाधिक यथार्थ की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। परन्तु भारत के सामने एक विशिष्ट उद्देश्य था राष्ट्र की स्वाधीनता की प्राप्ति और विदेशी शासकों के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करना, फलस्वरूप व्यापक स्तर पर पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण की लहर फैल गई। इस समूचे काल में पुनर्जागरण की शक्तियों का प्रभाव होने के कारण चेतना के स्तर पर भावुक, आवेशात्मक, आदर्शवादी, प्रवृत्तियों से आक्रांत होना नाटककारों के लिए स्वाभाविक था। यही कारण है कि प्रसादोत्तर काल तक किंचित परिवर्तनों के साथ सभी रचनाकारों की दृष्टि मूलतः आस्था, मर्यादा एवं गौरव के उच्चादर्शों से मंडित रही। भारतेन्दु ने अपनी अद्भुत व्यंग्यशक्ति एवं समाज-विश्लेषण की पैनी दृष्टि से सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया परन्तु उनकी मूल चेतना

सुधारवादी आग्रहों का परिणाम होने के कारण आस्थामूलक थी। द्विवेदी युग में भी दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन आदर्शवादी मर्यादा एवं नैतिकता के कठोर बन्धन के कारण यथार्थ के स्वर मद्धिम पड़ गए। प्रसाद युगीन नाटकों की मूलधारा भी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक आदर्श चेतना से सम्बन्धित थी परन्तु खल पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं तथा सद् पात्रों की जीवन चरित्र-सृष्टि में यथार्थ चेतना को नकारा नहीं जा सकता। 19वीं शताब्दी में पश्चिमी नाट्य साहित्य में इब्सन् एवं शॉ द्वारा प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्यान्दोलन ने भारतीय नाट्य साहित्य की गतिविधियों को भी प्रेरित एवं प्रभावित किया। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने समस्या नाटकों का सूत्रपात करके बुद्धवादी यथार्थ को प्रतिष्ठित करने का दावा किया है। परन्तु सिद्धांत एवं प्रयोग में पर्याप्त अन्तर पाते हुए हम देखते हैं कि एक ओर वैचारिक धरातल पर प्रकृतवाद सुलभ जीवन के क्रांतिव्यंजक सम्बन्ध उभरते हैं, वहीं दूसरी ओर समाधान खोजते हुए परम्परा के प्रति भावुकता-सिक्त दृष्टि भी पाई जाती है। 'भावात्मकता और बौद्धिकता' का घपला होने के कारण उनके नाटकों का मूल स्वर यथार्थ से बिखर जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व अन्य युगीन सामाजिक समस्याओं के साथ राष्ट्र की मुक्ति का प्रश्न सभी नाटककारों की चेतना पर छाया हुआ था। स्वाधीन भारत से उन्हें अनेक प्रकार की मीठी अपेक्षाएं थीं, परन्तु विडम्बना यह है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जीवन समस्याओं से आक्रांत, बोझिल और जटिल हो उठा। परिवेश के दबाव से ही यथार्थ बोध की शुरुआत हुई।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक का लेखन प्रसाद-युग में ही प्रारम्भ किया था। उनके अशोक (1927), संन्यासी (1829), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), राक्षस का मन्दिर (1932), 'राजयोग' (1934), सिन्दूर की होली (1934), 'आधी रात' (1934) आदि नाटक इसी काल के हैं। किन्तु मिश्र जी के इन नाटकों में भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्यधारा से भिन्न प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि भारतेन्दु और प्रसाद-युग के नाटकों का दृष्टिकोण मूलतः राष्ट्रीय और सांस्कृतिक था। यद्यपि इस युग के नाटकों में आधुनिक यथार्थवादी धारा का प्रादुर्भाव हो चुका था। तथापि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों के द्वारा राष्ट्रीयता का उद्घोष इस युग के नाटककारों का प्रमुख लक्ष्य था। अतः उसे हम सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि कह सकते हैं, जिनमें प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और नयी यथार्थवादी चेतना में समन्वय और सन्तुलन परिलक्षित होता है। मिश्र जी नयी चेतना के प्रयोग के अग्रदूत माने जाते

हैं। डॉ. विजय बापट के मतानुसार नयी बौद्धिक चेतना का विनियोग सर्वप्रथम उन्हीं के तथाकथित समस्या नाटकों में मिलता है। इस बौद्धिक चेतना और वैज्ञानिक दृष्टि का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी चिन्तकों के प्रभाव से हुआ था। डारविन द्वारा प्रतिपादित विकासवादी सिद्धान्त, फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी सिद्धान्तों ने यूरोप को ही नहीं, भारतीय जीवन पद्धति को भी प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप जीवन में आस्था और श्रद्धा की बजाय तर्क को प्रोत्साहन मिला। पश्चिम में इस प्रकार की बौद्धिक चेतना ने समस्या नाटक को जन्म दिया। उन्हीं की प्रेरणा से मिश्र जी ने भी हिन्दी नाटकों में भावुकता, रसात्मकता और आनन्द के स्थान पर तर्क और बौद्धिकता का समावेश किया। साथ ही द्रष्टव्य है कि बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए भी वे परम्परा-मोह से मुक्त नहीं हो पाए। युगीन मूल्यगत अन्तर्विरोधी चेतना समान रूप से उनके प्रत्येक नाटकों में देखी जा सकती है। इनके नाटकों का केन्द्रीय विषय स्त्री-पुरुष सम्बन्ध एवं सेक्स है। राष्ट्रोद्धार, विश्व-प्रेम आदि के मूल में भी मिश्र जी ने काम भावना को ही रखा है, जो परितृप्ति के अभाव में अपनी दमित वृत्ति को देश सेवा आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है और प्राय: इस प्रकार परितष्प्ति' के साधन जुटा लेती है।

मिश्र जी के नाटकों के साथ हिन्दी-नाटक के विषय और शिल्प दोनों में बदलाव आया है। मिश्र जी के सभी नाटक तीन अंकों के हैं। इनमें इब्सन की नाट्य पद्धति का अनुसरण कर किसी भी अंक में बाह्यत: कोई दृश्य विभाजन नहीं रखा गया है यद्यपि दृश्य-परिवर्तन की सूचना यत्र-तत्र अवश्य दे दी जाती है। प्रेम, विवाह और सेक्स के क्षेत्र में विघटित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए मिश्र जी ने शिल्पगत नवीनता को अपनाया है। पात्र समस्या के सम्बन्ध में तर्कमूलक वाद-विवाद करते हुए दिखाई देते हैं। कार्य-व्यापार के अभाव से इनके नाटकों में रुक्षता आ गई। जिसके फलस्वरूप प्रभावान्विति खण्डित हो गई। रसात्मकता, प्रभावान्विति के स्थान पर बौद्धिक आक्रोश और उत्तेजना ही इनके नाटकों में प्रधान है। लेकिन भावुकता के कारण इनके नाटकों का शिल्पगत गठन प्रभावित हुआ है। इस अन्तर्विरोध के रहते हुए भी इनके नाटक अकलात्मक नहीं कहे जा सकते।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उन नाटककारों में हैं जिन्होंने प्रसादोत्तर काल में नाट्य परम्परा को निर्भीक और बुनियादी यथार्थ की मुद्रा प्रदान की। काल-क्रम के अनुसार उनके प्रमुख नाटक हैं—'जय-पराजय' (1937), स्वर्ग की झलक'

(1938), 'छठा बेटा' (1940), 'कैद' (1943-45), 'उड़ान' (1943-45), 'भंवर' (1943), 'आदि मार्ग' (1950), 'पैतरे' (1952), 'अलग-अलग रास्ते' (1944-53), 'अंजो दीदी' (1953-54), 'आदर्श और यथार्थ' (1954) आदि। अश्क के प्रायः सभी नाटकों में विकसित नाट्य-कला के दर्शन होते हैं। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इनके नाटक सुगठित, स्वाभाविक, सन्तुलित एवं चुस्त बन पड़े हैं। उच्च मध्य वर्गीय समाज की रुढ़ियों, दुर्बलताओं, उनके जीवन में व्याप्त 'कृत्रिमता', दिखावे और ढोंग का पर्दाफाश करना उनके नाटकों का मूलभूत कथ्य है। यह कथ्य समाज के स्थूल यथार्थ से सम्बन्धित है। कथ्य की स्थूलता और सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता ही अश्क के नाटकों की सीमा है, तथापि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने जीवन और समाज को एक आलोचक की दृष्टि से देखा है। इनके अनेक नाटक मंचित तथा रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। इनका योगदान हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए एक विशेष उपलब्धि है।

आलोच्य-युग में कुछ पुराने खेमे के नाटककार यथा—सेठ गोबिन्ददास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' आदि भी नाट्य साहित्य को समृद्ध करते रहे। सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' (1942), शशि गुप्त (1942) आदि पौराणिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (1940), सन्तोष कहाँ (1941) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की। हरिकृष्ण प्रेमी के 'छाया' (1941) और बन्धक (1940), सामाजिक नाटक हैं। दोनों नाटकों में आर्थिक शोषण एवं विषमता का यथार्थ मुखरित है। ऐतिहासिक नाटकों में 'आहुति' (1940), स्वप्नभंग (1940), विषपान (1945), साँपों की सृष्टि, उद्धार आदि उल्लेखनीय हैं। 'अमृत-पुत्री' (1978), नवीनतम ऐतिहासिक नाटक हैं। गोबिन्द वल्लभ पंत ने आलोच्य युग में 'अन्तःपुर का छिद्र (1940), 'सिन्दूर बिन्दी' (1946) और 'ययाति' (1951) नाटकों की रचना की। पन्त जी ने 'कला के लिए कला' की भावना से प्रेरित होकर नाटकों की रचना अवश्य की है, किन्तु उनके नाटक उद्देश्य से रहित नहीं हैं। उन्होंने जीवन की गहरी उलझनों एवं समस्याओं को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। पंत ने यद्यपि प्रसाद-युग की परम्परा का निर्वाह किया है, किन्तु उनके परवर्ती नाटकों में सामाजिक चेतना अधिकाधिक मुखर होती गई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'गरुड़ध्वज' (1945), 'नारद की वीणा',

'वत्सराज' (1950) 'दशाश्वमेघ (1950), 'वितस्ता की लहरें' (1953), 'जगदगुरु', चक्रव्यूह (1953), कवि भारतेन्दु (1955), 'मृत्युञ्ज्य' (1958) चित्रकूट, अपराजित, धरती का हृदय आदि नाटकों की रचना की। सभी नाटकों में वर्तमान युग के शिक्षित व्यक्तियों की समस्याओं, उनकी संशयात्मक मनः स्थिति, उनकी कुंठाओं और मानसिक विकृतियों का स्वाभाविक और मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया गया है। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में 'राधा' (1961), 'अन्तहीन-अन्त' (1942) 'मुक्तिपथ' (1944) 'शक विजय' (1949), कालीदास (1950) 'मेघदूत' (1950), विक्रमोर्वशी (1950), 'क्रांतिकारी' (1953), 'नया समाज' (1955), पार्वती (1962), मत्स्यगंधा (1976), आदि हैं। भट्ट जी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की मूल प्रेरणा राष्ट्रीयता है। इसमें इतिहास और मिथक के बीच में यथार्थ और समस्या का अहसास भी दिखाई देता है। सामाजिक नाटकों के माध्यम से भट्ट जी ने वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत एवं समाजगत संघर्षों एवं समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। जगन्नाथप्रसाद मिलिन्दका 'समर्पण' (1950) और 'गौतम नन्द' (1952) ख्याति प्राप्त रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य साहित्यकारों ने भी नाटक के क्षेत्र में अवतरण किया, किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। इनमें बैकुण्ठनाथ दुग्गल, वृन्दावनलाल वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी काल में स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक में परिवर्तन की एक नई स्थिति दिखाई देती है। प्रसादोत्तर नाटक के पहले चरण में यथार्थवादी प्रवृत्ति से अनुप्राणित हुआ और उसके साथ ही समस्यामूलक नाटक का आविर्भाव हुआ। किन्तु स्वतंत्रता के बाद सामाजिक यथार्थ और समस्या के प्रति जागरूकता के साथ-साथ नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के कई नए आयाम उभरे। इसके अतिरिक्त स्थूल यथार्थ के प्रति नाटककार के दृष्टिकोण में भी अन्तर आया।

युगीन परिवेश के ऐतिहासिक संदर्भों में पाँचवें दशक तक जीवन के समस्या संकुल होने पर भी आम जनता की स्थिति में सुधार और परिवर्तन आने की अभी धुँधली सी आशा दिखाई दे रही थी परन्तु छठे दशक के बाद से मीठे मोहक सपने बालू की भीत की भांति ढह गए, परिवेश का दबाव बढ़ा, मोहासक्ति भंग हुई और आज परिवेशगत यथार्थ अधिक नंगा होकर सामने आ रहा है। यथार्थ बोध का सही अभिप्राय मोहभंग की इस प्रक्रिया से ही जोड़ा जा सकता है। जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल आदि नाटककारों ने अपनी

ऐतिहासिक एवं सामाजिक रचनाओं द्वारा कुछ सीमाओं के साथ यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया। 'जगदीशचन्द्र माथुर' के चार नाटक प्रकाशित हुए हैं—'कोणार्क' (1954), 'पहला राजा' (1969), शारदीया तथा 'दशरथनन्दन'। इन नाटकों में क्रमशः मार्क्स एवं फ्रायड के प्रभावसूत्रों को आत्मसात करते हुए छायावादी रोमानी कथास्थितियों की सृष्टि करने में माथुर की दृष्टि यथार्थवादी एवं आदर्शवादी, कल्पना तथा स्वच्छन्दतावादी भावुकता को एक साथ ग्रहण करती है। परिणामतः उनके नाटकों में अन्तर्निहित समस्याएं जीवन के यथार्थ को व्याख्यायित करते हुए भी यथार्थवादी कलाशिल्प में प्रस्तुत नहीं हुई हैं। समस्याओं का विश्लेषण एवं विकास बौद्धिक एवं तार्किक क्रिया द्वारा प्रेरित नहीं है। कोणार्क में कलाकार एवं सत्ता के संघर्ष की समस्या धर्मपद के तार्किक उपकथनों के माध्यम से विश्लेषित हुई हैं। परन्तु 'शारदीया' एवं 'पहला-राजा' की समस्याएं प्रगतिशील एवं ह्रासशील मूल्यों के संघर्ष की भूमि पर अवतरित होते हुए भी बौद्धिक एवं तार्किक प्रक्रिया के अभाव में यथार्थवादी कला की दृष्टि से हमारी चिन्तन शक्ति को उद्‌बुद्ध नहीं करती क्योंकि माथुर का विशेष बल आन्तरिक अनुभूतियों एवं मानवीय संवेदना को जगाने पर है। फलस्वरूप उन्होंने काव्यात्मकता एवं रसोत्कर्ष के साधनों का सहारा लिया है। अपनी विचारधारा के अनुरूप ही जगदीश चंद्र माथुर ने नाटकीय कला को संस्कृत एवं लोकनाट्य तथा यथार्थवादी मंच की विशेषताओं से अभिमंडित किया है। काव्य-तत्त्व, अलंकरण एवं रस परिपाक से सम्बन्धित तत्त्व उन्होंने संस्कृत नाटकों से ग्रहण किए हैं। संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व का तत्त्व पाश्चात्य यथार्थवादी नाटक शिल्प का प्रभाव है। संक्षेप में, एक ऐसे मंच की परिकल्पना पर उनका ध्यान केन्द्रित रहा है जो बहुमुखी हो, एक ही शैली में सीमित नहीं हो, भिन्न-भिन्न सामाजिक आवश्यकताओं और चेतनाओं का परिचायक हो।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक ने पाश्चात्य प्रभाव से जो नये आयाम ग्रहण किए उनकी प्रथम अभिव्यक्ति धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' में प्रकट हुई है। पश्चिम में दो महायुद्धों के बाद नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के अनेक प्रयोग हुए। इसके साथ ही युद्ध की परिस्थितियों के कारण जीवन मूल्यों में भी जो बड़ा भारी परिवर्तन आया उसकी अभिव्यक्ति भी नाटक में हुई। भारत में समानान्तर सामाजिक परिस्थिति तो नहीं आई किन्तु पश्चिम की विचारधारा का उस पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। नई कविता और नई कहानी उससे अनुप्राणित थी ही, हिन्दी नाटक को भी उससे एक दिशा मिली। ऐसी स्थिति में आधुनिक

भाव-बोध को उजागर करने का प्रयास हुआ और धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश आदि नाटककारों ने उसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डॉ. धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' (1955) गीति-नाटक ने हिन्दी गीत नाट्य-परम्परा को एक नया मोड़ दिया है। इसमें नाटककार ने महाभारत के युद्ध को अनीति, अमर्यादा और अर्द्ध-सत्य से युक्त माना है। इसीलिए उन्होंने इस काल को अन्धायुग कहा है। इस नाटक में मिथकीय पद्धति द्वारा विगत और आगत का समन्वय कर, निरन्तरता में आस्था उत्पन्न करने का सघन प्रयास 'भारती' ने किया है। इसमें अस्तित्ववादी दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है। 'अन्धायुग' के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संगृहीत गीतिनाट्य, गिरजाकुमार माथुर का 'कल्पान्तर', सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य-नाटक' में संगृहीत सिद्धान्त कुमार के पांच गीतिनाट्य-सृष्टि की साँझ, लोह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश और बादली का शाप तथा दुष्यन्तकुमार के गीतिनाटक 'एक कण्ठ विषपायी' (1963) आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल के हैं—'अन्धा कुआँ' (1955), 'मादा कैक्टस' (1959), 'तीन आँखों वाली मछली' (1960), 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' (1960), रक्त कमल (1961), 'रात रानी' (1962), 'दर्पण' (1963)' 'सूर्यमुख' (1968), 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु' (1971), 'करफ्रयू' (1972) आदि। 'अन्धा कुआँ' में आर्थिक संघर्ष के कारण उत्पन्न ग्राम्य-जीवन के सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का चित्रण है। 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' और 'रक्त कमल' उनके प्रतीक नाटक हैं। 'तोता मैना' नाटक टेकनीक के नये प्रयोगों को प्रस्तुत करता है। यह नाटक लोकवृत्त पर आधारित है। 'दर्पण' और 'रातरानी' समस्या नाटक हैं। दर्पण में मनुष्य को अपने वास्तविक रूप की तलाश में भटकते हुए दिखाया गया है। 'कलंकी' नाटक में अनेक जटिल प्रश्नों यथा सक्रांति कालीन लोकचेतना को प्रस्तुत करना, आज के समय में भी कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, देखना, यथार्थ का सामना करने से कतराना आदि को लोकरंगमंचीय संस्कृति, अभिव्यंजनावादी नाट्य-संरचना में प्रस्तुत किया गया है। 'सूर्य-मुख' में महाभारत-युद्ध के बाद की घटना ली गयी है। इस नाटक पर 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया' की स्पष्ट छाप है। 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'कर्फ्यू' आधुनिक जीवन की संवेदना को लेकर लिखे गये विचारोत्तेजक नाटक हैं। डॉ. लाल अपने चारों ओर के परिवेश और युग जीवन के प्रति सजग हैं। उनका लक्ष्य समाज की विरुपता को संयम और तर्क के साथ

चित्रित कर समाज को बदलते जीवन-मूल्यों और नैतिक मानदंडो से अवगत कराना है।

हिन्दी नाटकों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर 'मोहन राकेश' ने एक नये युग की स्थापना की है। उनका 'आषाढ़ का एक दिन' (1956), 'लहरों के राजहंस (1963) तथा 'आधे-अधूरे' (1969) नाटक निश्चय ही ऐसे आलोक स्तम्भ हैं जो सुदूर भविष्य में भी हिन्दी-नाटक को एक नवीन गति-दिशा प्रदान करते रहेंगे। मानवीय सम्बन्धों में विघटन के कारण टूटते हुए व्यक्ति के आभ्यंतर यथार्थ का चित्रण करना इन नाटकों का केन्द्रीय कथ्य एवं मूल स्वर है। 'आषाढ़ का एक दिन' कवि कालिदास और उसकी बाल-संगिनी मल्लिका के प्रेम और संघर्ष की कथा पर आधारित है। कालिदास अपने परिवेश एवं मल्लिका से कट जाने के कारण जीवन के नये अर्थ की तलाश में निकल पड़ता है। 'लहरों के राजहंस' अश्वघोष के प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरानन्द' पर आधारित है। इस नाटक में नन्द सुन्दरी और गौतम दोनों से निरपेक्ष हो जाने के बाद अलगाव की स्थिति में आंतरिक सत्य की तलाश करने के लिए चल पड़ता है। उनका जीवन-बोध अस्तित्ववाद की वैचारिक भूमिका पर ही उभरा है। राकेश की दृष्टि का यह यथार्थ जीवन-अर्थो की खोज तक ही सीमित है। किसी परिणति तक पहुंचना राकेश का अभीष्ट भी नहीं है। इसी कारण उनके समस्त नाटकों का समापन किसी निश्चित अन्त पर पहुंच कर नहीं होता। 'आधे-अधूरे' द्वारा आधुनिक जीवन से साक्षात्कार कराया गया है, इसमें महानगर के मध्यम वर्गीय परिवार का चित्रण है। आज के परिवार की टूटन और चुक गये आपसी सम्बन्धों को नाटक में बड़े सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अस्तु, राकेश ने अपनी नाट्य-सृष्टि में अन्तर्निहित यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा की है। सभी नाटक रंगमंचीय सम्भावनाओं से पूर्ण है। प्रसाद जी के बाद सर्वाधिक सशक्त नाटककार हम राकेश को कह सकते हैं। उन्होंने अतीत के सघन कुहासे और अपने समसामयिक जीवन के अन्धे-गलियारों में भटक कर सभी स्तरों पर अपनी नाट्यकला को पूर्णतया आधुनिक रखा है।

मोहन राकेश के बाद जिस नाटककार के प्रति विश्वास जागता है, वह हैं 'सुरेन्द्र वर्मा'। उनके नाटकों में 'द्रोपदी', 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक', 'आठवां सर्ग' आदि उल्लेखनीय हैं। प्रथम नाटक में आधुनिक नारी की मन:स्थिति का चित्रण पुराने मिथक-प्रतीकों के माध्यम से बड़ी सफलतापूर्वक किया गया है। 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक' का आधार छद्म

इतिहास हैं, पर इसमें लेखक ने एक पौरुषहीन व्यक्ति के विवाह बन्धन में पड़ी नारी की शाश्वत समस्या को आधुनिक भाव-बोध के साथ उठाने का प्रयास किया है। आठवाँ सर्ग' कालिदास के जीवन और लेखन पर आधारित है और उसका कथ्य लेखकीय स्वातंत्रय की आधुनिक चेतना को उजागर करता है।

व्यवस्था के संदर्भ में समाज एवं व्यक्ति के बाह्य एवं आंतरिक यथार्थ का चित्रण करना नये नाटककारों के नाटकों का केन्द्रीय कथ्य लगता है। ब्रजमोहन शाह के 'त्रिशंकु', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी' आदि नाटकों में सत्ता के छद्म और पाखंडो का ही पर्दाफाश किया है। अधुनातन नाटककार मुद्राराक्षस, लक्ष्मीकांत वर्मा, मणि मधुकर, शंकर शेष और भीष्म साहनी भी क्रमशः अपने नाटकों 'योर्स-फेथ-फुल्ली', 'तेंदुआ', 'मरजीवा', 'रोशनी एक नयी है', 'रसगन्धर्व', 'एक और द्रोणाचार्य' तथा 'हानूश' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों से जूझ रहे हैं। इन्होंने जहाँ एक ओर वर्ग-वैषम्यो की चेतना को जाग्रत करके व्यवस्था के ह्रासशील रूपों का यथार्थ चित्रण किया है वहीं सत्ता के दबाव में पिस रहे आम आदमी की करुण नियति और उससे उत्पन्न संत्रास का भी रुपायन किया है। इस तरह नाटक सीधे जिन्दगी की शर्तो से जुड़े और उनकी विषमताओं के साथ जूझते व्यक्ति की यंत्रणा उसके भीतर यथार्थ को रंग-माध्यम से प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाते हैं। बदलाव की चेतना और आकुलता को उजागर करने के सशक्त कथ्य से ही हिन्दी के रचनात्मक नाट्य के लिए शुभारम्भ की स्थिति मानी जा सकती है। नये नाटककार सत्यदेव 'दूबे, रमेश उपाध्याय, रामेश्वर प्रेम, शरद जोशी, गिरिराज, सुशील कुमार सिंह, बलराज पंडित, मृदुला गर्ग, सुदर्शन चोपड़ा नये नाटक लिखकर आंतरिक यथार्थ बोध की संपुष्टि में योग दे रहे हैं। अभी हाल ही में कुछ नाटक प्रकाशित हुए हैं।

प्रभात कुमार भट्टाचार्य का 'काठ महल', गंगाप्रसाद विमल का 'आज नहीं कल', प्रियदर्शी प्रकाश का 'सभ्य सांप', रमेश बख्शी का 'वामाचरण', भगवतीचरण वर्मा का 'वसीयत', इन्द्रजीत भाटिया का 'जीवन दण्ड' सुदर्शन चोपड़ा का 'काला पहाड़' शिवप्रसाद सिंह का 'घाटियां गूंजती हैं' नरेश मेहता का 'सुबह के घण्टे' ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'नेफा की एक शाम' अमृतराय की 'विंदियों की एक झलक' गोविन्द चातक का' अपने अपने खूंटे' विपिन कुमार अग्रवाल का 'लोटन', विष्णुप्रभाकर का 'टगर', सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रोपदी' और 'आठवाँ सर्ग' भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बाजार में', राजेन्द्र प्रसाद का 'प्रतीतियों के बाहर' और 'चेहरों का जंगल' आदि। इन नाटकों में जो सामान्य

प्रवृत्तियां उभर कर आई हैं वे इस प्रकार हैं—आकार में छोटे, वर्तमान जीवन से उनका सम्बन्ध, वस्तुवाद का प्राधान्य, अधिकांश मनोवैज्ञानिक और समस्यात्मक, रंगमंचीय संकेतों का बाहुल्य संकलन त्रय के पालन की प्रवृत्ति आदि। इनमें से अन्तर्मन की सच्चाइयों को नकार कर तटस्थता का मुखौटा लगा लेने का उपदेश देने वाले नाटककार कहां तक सफल हो पायेंगे, इसका सही मूल्यांकन उनकी आने वाली कृतियों से ही लग सकेगा।

किसी भी रचना की सम्पूर्णता कथ्य और शिल्प के समानुपातिक कलात्मक संयोजन में निहित रहती है। हिन्दी नाटकों में इन दोनों तत्त्वों के बीच तालमेल की स्थिति पर यदि विचार किया जाए तो हिन्दी के बहुत कम नाटक इस स्तर तक ऊंचे उठ पाते हैं। जब तक रंग जगत में वे सफल नहीं होते, उन्हें अर्थवान साबित नहीं किया जा सकता। यह एक सुखद संयोग है कि हिन्दी रंगमंच व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय रंगमंच की भूमिका में क्रियाशील है। आज के हिन्दी नाटकों की उपलब्धि पर विचार किया जाए तो यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी नाटक ने अपनी निरर्थकता और कलाहीनता के घेरे को तोड़कर उल्लेखनीय सर्जनात्मकता प्राप्त करने की दिशा में कदम बढ़ाया है और अब नाट्यलेखन केवल सतही सामाजिक उद्देश्यपरकता के आसपास चक्कर नहीं काटता बल्कि गहरी या मूलभूत मानवीय अनुभूति या स्थितियों का सन्धान करता है। इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जीवन और समाज की विसंगतियों को उभारते हैं, पीड़ा संत्रास और अजनबीपन के बीच आज के मानव की दयनीय नियति को रेखांकित करते हैं। स्वतंत्रता के बाद नाटक आधुनिक युग बोध के साथ ही जुड़ता नहीं दिखाई देता, वरन् रंगशिल्प के प्रति अधिक जागरूक भी हो गया है।

आधुनिक हिंदी नाटकों के चिंतन का स्वरुप

आधुनिक हिंदी रंगमंच की शुरुआत सन 1857 से मानी जाती है। यह समय हिंदी साहित्य के इतिहास में भारतेंदु युग नाम परिचित है। साहित्य और रंगमंच का बहुत ही करीब रिश्ता है। यदि साहित्य की पहली अभिव्यक्ति विधा कविता है तो नाटक एक उसी अभिव्यक्त विधा को जीवंत रूप देने में सशक्त विधा है। भारतीय नाटक की उत्पत्ति देखी जाए तो यह उत्पत्ति कब-कैसे एवं किन उपादानों के संयोग से हुई इस विषय पर विद्वानों में मंतव्य नहीं है। परन्तु किसी विद्वान् का मत भी अप्रमाणिक सिद्ध करना अत्यंत कठिन है, क्योंकि

नाटक समाज आईना (दर्पण) होता है। समाज निरंतर परिवर्तन शील रहता है। आज का सामाजिक परिवेश अतीत के सामाजिक परिवेश काफी अधिक बदला है। प्रेमचंद ने भी साहित्य की बहुत सी परिभाषाएं दी है पर मेरे विचार से उनकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में "साहित्य का जीवन से गहरा संबंध है–एक क्रिया के रूप में दूसरा प्रक्रिया के रूप में। क्रिया रूप में वह जीवन की अभिव्यक्ति है प्रतिक्रया रूप में उसका निर्माता और पोषक "इसलिए साहित्य मानव सभ्यता की विकास का घोतक माना जाता है। आधुनिक साहित्य के आरम्भ में ही नाटक विधा का प्रारंभ हुआ। नाटक विधा का उदभव और विकास का विवेचन करते हुए रामचंद्र शुक्ल इतिहास में "आधुनिक गद्य–साहित्य परम्परा का प्रवर्तन शीर्षक परिच्छेद के अंतर्गत लिखते हैं कि–विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य–साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ " इस बात पर हेनरी डब्ल्यू वेल्थ भारत का प्राचीन नाटक में लिखते हैं कि घटनाओं का कृत्य भी कितना विलक्षण है। करुण रस अपनें में तो एक ही है, लेकिन विभिन्न परिस्थितियों में उनका अलग–अलग रूप हो जाता है जैसे पानी के अलग–अलग रूप भंवर, बुलबुले , तरंगे तो है, लेकिन वास्तव में वे सब पानी ही है। इसलिए नाटक एक कला है जहां शब्दों को इस प्रकार से संगठित किया जाता है कि उसे प्रस्तुत करके आनंद की प्राप्ति तो होती ही हैं उसके साथ–साथ अनुभवों के माध्यम से ज्ञान का विस्तार होता हैं। जिस प्रकार शब्दों के बिना साहित्य नहीं रचा जा सकता उसी प्रकार रंगों, रेखाओं के बिना चित्रकला की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार इस जीवंत तत्त्वों के बिना इन प्रदर्शनकारी कलाओं के अस्तित्व की कोई पहचान नहीं की जा सकती। लेकिन साहित्य और प्रदर्शनकारी कलाओं को अनुभूत करने की प्रक्रिया ठीक एक–दूसरे के विपरीत मानी जाती है। नाटक विधा प्रकृति से संश्लिष्ट विधा मानी जाती है। इसी बात पर भरत मुनि ने जो कहा था वह इस प्रकार है " न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न विधा है, न ऐसी कोई कला है,न कोई योग है न कोई कार्य ही है जो इस नाट्य में प्रदर्शित न किया जाता हो "नाटक विधा इस तरह मानी जाती है इसमें ऐसा कोई ज्ञान न हो जो कि प्रस्तुत नहीं हुआ हो। सिंध, कला , योग इन सभी बातों का प्रयोग नाटक में होता है। इसके प्रस्तुतिकरण में अनेक कलाकारों, सामूहिक योगदान होता है। जैसे– नाटक , लेखक , निर्देशक, अभिनेता , सज्जा–सहायक , मंच व्यवस्थापक , प्रकाश चालक तथा इनके पीछे काम करने वाले अनेक शिल्पी तथा कारीगर। इन सभी कलाकारों के बिना

नाटक अधूरा है। उनके रचना में इन सबका सहयोग गुणात्मक होता है। दूसरी ओर नाटक अपने प्रकृति में सामूहिक है। इसे एक साथ अनेक लोग देख सकते हैं इसलिए इस विधा को आज जीवंत विधा माना जाता है। आधुनिक हिंदी नाटकों का चिंतन के स्वरुप पर चिंतन करते समय इस काल के नाटकों को पाँच भागों में बांटा गया है–

1. भारतेंदु पूर्व हिंदी नाटकों का स्वरुप,
2. भारतेंदु युगीन हिंदी नाटकों का स्वरुप,
3. प्रसाद युगीन हिंदी नाटकों का स्वरुप,
4. प्रसादोत्तर हिंदी नाटकों का स्वरुप,
5. साठोत्तरी हिंदी नाटकों का स्वरुप।

(1) भारतेंदु पूर्व हिंदी नाटकों का स्वरुप – भारतीय नाट्य मंच का रचनाकाल निर्धारित करना एक जटिल समस्या है। यह कला प्रणयन किसी एक व्यक्ति द्वारा एक समय में हुआ होगा भारतीय परंपरा भरत को ही नाट्यशास्त्र का रचयिता मानती है। किन्तु भारतीय इतिहास में अनेक बातों का होना काल–निर्धारण में एक उलझन उत्पन्न कर देता है। जिसका समाधान अभी तक नहीं हो पाया है। पं. मनमोहन घोष भाषाशास्त्रीय, छंदशास्त्र भौगोलिक तथ्यों के आधार पर कहते हैं कि "नाट्यशास्त्र के प्रणयन का समय ई.पू.प्रथम शताब्दी तथा ई. पू. द्वितीय शताब्दी के मध्य मानते हैं" आज नाटकों में जो भाषा शैली अपनाई जाती है। वह संस्कृत और प्राकृत भाषा से आई है। इस बात के आधार पर नाट्यशास्त्र या नाटक रचना को बहुत ही प्राचीन माना जाता है। आधुनिक युग के प्रारंभ में जो नाटक लिखे गये वह भारतेंदु युग पूर्व नाटक के नाम से विख्यात हैं। आधुनिक युग लोक मानस को लेकर बहुत ही चर्चित नाटक माने जाते हैं। नाटक को लोकवृत का अनुकरण माना जाता है। लोकवृत उसे कहते हैं जो समाज का अनुकरण करके रंगमंच के माध्यम से अभिव्यक्त कला है। क्योंकि नाटकों में सामाजिक आचरण की सहज अभिव्यक्ति पाई जाती है। भारतेंदु यूग पूर्व नाटकों में अंग्रेजों द्वारा स्थापित प्रथम 'रंगशाला' 'प्ले हाउस ' नाम से सन 1776 ई. में कलकत्ते में स्थापित की गयी थी इसके बाद सन 1777 ई. में 'कलकत्ता थियेटर ' की स्थापना हुई इसी थियेटर में सन 1789 ई. में कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतलम ' का अंग्रेजी में अभिनय प्रस्तुत किया गया था। इन अभिनय शालाओं में भारत में रहने वाले सभी शिक्षित समुदाय का ध्यान नाट्यकला की ओर आकृष्ट किया था। सर विलियम जोन्स द्वारा फोर्ट विलियम

कॉलेज में 'शकुंतला' के कई अनुवाद प्रस्तुत किये जा चुके थे। शेक्सपियर के नाटकों का अध्ययन भारतीयों द्वारा प्रतिदिन दिलचस्पी के साथ हो रहा था। आज नाट्य संस्कार अब भी भारतीय कलाकारों के मानस में विधमान है। इसलिए बाबू गुलाब राय कहते हैं कि–नाटक सामाजिकों की अभिवृत्तियों, कार्य व्यवहारों का अभिनय के माध्यम से रंगमंच पर उपस्थित करता है , जिसे देखकर सामाजिकों का मन प्रसादन होता है। नाटक में सभी वर्गो जातियों की अवस्था , गुण,रूचि के अनुसार सामग्री उपलब्ध रहती है। नाटक की कथा वस्तु में जिन धर्म, क्रीड़ा, श्रम,हास्य,युद्ध एवं काम आदि भावों की अभिव्यंजना रहती है वास्तव में भाव ही हमारे जीवनगण एवं सामाजिक मूल्य है। मंच पर इन्हीं प्रतिफलित होते देखकर हमें एक प्रकार का आनंद मिलता है। हमारे समाजिक भाव की तृप्ति होती है। " इसलिए नाटक हमारे यथार्थ जीवन से जोड़ा गया है। वह सामाजिक मूल्यों की परख अपने अभिनय के माध्यम से दिखाते हैं। कविता, निबंध आदि में भी कल्पना के अतिरिक्त तथा विषय एवं अभिव्यक्ति की व्यापकता के लिए कम अवसर होने के कारण जीवन–मूल्यों का मौका नाटक की तुलना में कम रहता है। जबकि नाटक में मूल्याभिव्यक्ति की जीवंत एवं अपेक्षाकृत व्यापक प्रक्रिया उपस्थित करता है।

(2) भारतेंदु युगीन हिंदी नाटकों का स्वरुप – भारतेंदु पूर्व युगीन नाटकों में सन 1700 के आसपास लिखा गया महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद रघुनन्दन ' नामक नाटक भारतेंदु युग के पूर्व नाटकों में गिना है। भारतेंदु के पिता गोपालचंद्र उपनाम गिरिधर दास द्वारा रचित नहुष सन 1857 का हिंदी का प्रथम आधुनिक नाटक माना जाता है। इसके बाद शीतलाप्रसाद त्रिपाठी रचित जानकी मंगल (1868) आदि नाटकों ने भारतेंदु युग पूर्व महत्त्वपूर्ण कृतियों में स्थान निभाया हैं।

जब से भारतेंदु युग का आरम्भ हुआ तब से इस युग के प्रसिद्ध नाटककार स्वयं भारतेंदु ही रहे हैं। भारतेंदु द्वारा अनुदित तथा मौलिक कुल सत्रह नाटक हैं जिसमें सर्वप्रथम 'विधाशंकर' बांग्ला से रूपांतरित नामक नाटक सन 1868 में लिखा गया। उसी वर्ष 'रत्नावली' संस्कृत से अनुदित पाखण्ड विडंबन (1872), धनंजय विजय (1873), कपूर मंजरी (1875), श्री चंद्रावली नाटिका (1873), विघटन विषमौधम नाटक (1876), भारत दुर्दशा (1880), नीलदेवी गीतीरुपक (1881), अँधेरी नगरी प्रहसन नाटक (1881), सती प्रताप (1883), प्रेमयोगिनी नाटिका (1875) आदि कृतियाँ हैं।

इस युग में प्रेम प्रधान रोमानी नाटक भी लिखे गये जिसमें श्री निवासदास कृत , रणधीर प्रेम मोहिनी, किशोरी लाल गोस्वामी कृत प्रणयिनी परिणय,शालीग्राम शुक्ल कृत 'मयंक मंजरी ', लावण्यवती सुदर्शन , गोकुलनाथ शर्मा कृत 'पुष्पवती'आदि नाटक प्रमुख हैं। वास्तव में इन सभी नाटकों का उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ जनजागृति तथा राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करना था। भारतीय संस्कृति तथा अतीत के गौरव को पुनः जागृत करने एवं भारतीयता की रक्षा करने की दिशा में भी भारतेंदु युगीन नाटकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसलिए नाटक विधा आज भी प्रासंगिक है। इसलिए भरतमुनि अपने रससुत्र में कहते हैं कि दृहविभावानुभावनयभिचारीसंयोगाद्ररसनिघति " सामाजिको को रसानुभूति कराना ही नाटक का उद्देश्य माना गया हैं। रस की निष्पति विभावों , अनुभावों, संचारीभावों और संयोग के द्वारा होती है। इस मत पर विविध विद्वानों ने अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं। इस युग के नाटकों में प्रकृति के अनुरूप ही इस युग के लेखकों ने नाट्य-रचना की नाटक के संबंध में आलोचना और समीक्षाएं लिखी तथा नाटकों के प्रस्तुतीकरण और अभिनय में भी खुद भाग लिया किसी भी युग में इतने पूर्णकालिक नाटक कम लिखे गए हैं।

(3) प्रसाद युगीन हिंदी नाटकों का स्वरुप – भारतेंदु के बाद नाटक आन्दोलन का कुछ समय गतिशील दिखाई देता हैं, हिंदी क्षेत्र के रंगमंच जैसा संकेत किया गया , कुछ तो सामाजिक रुढियों के चलते विकसित नहीं हो पाया। फिर यहाँ के नाटक-लेखक ने अपने ही से हीन माना और दोनों के बीच सहयोग के बजाय अंतराल बढ़ता गया। अपने रंगमंच नाटक में प्रसाद लिखते हैं कि यह प्रत्येक काल में माना जाएगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है।. रंगमंच के सम्बन्ध में यह भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएँगे, प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो इससे यह स्पष्ट होता है कि नाटक पहले या रंगमंच , इस दुष्चक्र में पड़कर हिंदी क्षेत्र का रंगमंच लम्बे अरसे तक शिथिल पड़ा रहा।

सन 1900 से लेकर 1920 तक हिंदी साहित्य के इतिहास में द्रिवेदी युग माना जाता है। इसी युग में प्रसाद के नाटकों का भी जिक्र किया गया है। हिंदी नाटक में प्रसाद के आने से गुणात्मक परिवर्तन होता है। सीधी सपाट भाषा की तुलना में लाक्षणिक और अधिक अर्थ संपन्न भाषा का प्रयोग होने लगता है , जिसे उन्होंने छायावादी कविता के माध्यम से विकसित किया प्रसाद ने खुद

चन्द्रगुप्त मौर्य के अभिनय में सक्रिय रूचि ली थी और उसका एक संपादित संस्करण प्रस्तुत किया था जिसे बहुत दिनों बाद में 'अभिनय चन्द्रगुप्त ' के नाम से प्रकाशित कर दिया गया (1977)। चन्द्रगुप्त मौर्य का यह अभिनय दिसंबर 1933 में काशी में हुआ था। जिसके पूर्वाभ्यास में स्वयं प्रसाद बैठते थे। उसके बाद 1912 में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 'कत्यानी परिणय ' नामक नाटक छपा, बाद में इसी का संशोधित परिवार्धित रूप 1931 में चन्द्रगुप्त नाम से प्रकाशित हुआ। कत्यानी परिणय (1912) , चन्द्रगुप्त मौर्य (1931), अभिनय चन्द्रगुप्त (1933), और अंतिम नाटक ध्रुवस्वामिनी (1933) को उन्होंने , मंच की अनेक सुविधाओं को ध्यान में रखकर लिखा इस नाटक में आकार कम है, तीन अंक है जिसमें कुल तीन दृश्य बंध है, पात्रों की संख्या आठ है। और ब्यौरेवार रंग-नर्देश हैं। संगीत की बहुलता: कम है राष्ट्रीय भाव-बोध की अभिव्यक्ति प्रसाद के नाट्य विधान का मूलाधार कहा जा सकता हैं।

(4) प्रसादोत्तर हिंदी नाटकों का स्वरुप–प्रसादोत्तर नाटक में गुणात्मक परिवर्तन उपस्थित करने वाले नाटककार में प्रमुख हैं भुवनेश्वर। इस काल में पौराणिक और ऐतिहासिक परंपरा को लेकर नाटक लिखे गए पौराणिक नाटक में उदयशंकर भट्ट के अम्बा (1935), सागर विजय (1937), मत्स्यगंधा (1937), विश्वामित्र (1938), राधा (1941), सेठ गोविन्ददास का कर्ण (1946) , चतुरसेन शास्त्री का मेघवाद (1936), बेचौन शर्मा उग्र का 'गंगा का बेटा' (1940), डॉ लक्ष्मी स्वरुप का नलदमयंती (1941), श्रीमति तारा मिश्र का देवयानी (1944), आदि प्रमुख है। प्रस्तुत इन लेखकों का दृष्टिकोण युग की वैज्ञानिकता और बौद्धिकता से प्रभावित है। इसलिए ये लेखक पुराणों की कथा को नवीन अर्थ गरिमा करने में सफल हुए हैं। वस्तुतः पुराण का अर्थ भी यही है। प्रसाद के बाद कई दशकों तक नाटक की आवश्यकताओं पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया। नाटक तब तथाकथित मना जाता जब वह मंच पर प्रस्तुत नहीं हो जाता और इस अवधि की अधिकांश नाट्य कृतियों की सफलता सिद्ध होने का साधन ही नहीं रह गया।

(5) साठोत्तरी हिंदी नाटकों का स्वरुप–साठोत्तरी हिंदी नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, गोविन्द वल्लभ पन्त, भगवती चरण वर्मा, अमृतलाल नागर आदि उल्लेखनीय है। तो दूसरी पीढ़ी में विष्णुप्रभाकर , भीष्म साहनी, जगदीश चन्द्र माथुर,लक्ष्मी कान्त वर्मा , शम्भुनाथ सिंह, विनोद रस्तोगी , मोहन राकेश, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, आदि है।

आज का स्वर रंगमंच की दृष्टि से आशावादी बन गया है। मानव मूल्यों के प्रति अगाध निष्ठाके कारण आप आज की कुहासा में किरण देख रहे है। इस बात पर डॉ गिरीश रस्तोगी कहते हैं कि “समकालीन नाटक और रंगमंच की दृष्टि से भी भारतेंदु की प्रासंगिकता इसलिए बढ़ जाती है क्यूंकि उन्होंने नाटक के दृष्टव्य को अपनी कल्पना , परिकल्पना , रचना, पुनर्रचना के स्तर पर अनुभव किया था”।

इसी तरह से यदि हम साहित्य और रंगमंच के इस मूलभूत अंतर को समझ ले तो उनकी समीक्षा और आलोचना के प्रतिमानों पर खुलकर बातचीत की जा सकती है इसलिए आधुनिक हिंदी रंगमंच आज समाज को एक नई दिशा देने का काम कर रहा है। नाटक दृश्य श्रव्य माध्यम होने के कारण इसका प्रभाव ज्यादा बढ़ गया हैं। जाहिर है कि रंगमंच के सौन्दर्य शास्त्र पर गहराई से विचार करने में प्रस्तुति, सिद्धांत,और व्यवहार परंपरा और शास्त्र इन सभी चीजों पर ध्यान देना आवश्यक है।

4

समकालीन सामाजिक परिदृश्य

साहित्यकारों के कुछ प्रिय विषय हैं,जिन्हे बार बार लिखकर उन्हे सार्वभौमिक सत्य की तरह प्रस्तुत किया जा रहा है।सार्वभौमिक सत्य वह होते हैं जो हर काल में, हर स्थान पर खरे उतर सकते हों।एक ही बात को बार बार कहा जाय तो वह सार्वभौमक सत्य लग सकती है, हो नहीं सकती।कुछ विषय ऐसे हैं जिन पर लिख लिख कर वो न थके हों पर कुछ पाठक पढ़ पढ़ कर ऊब चुके हैं, जैसे पूर्व में सब कुछ अच्छा है पश्चिम में सब बुरा।कुछ बातों पर लिख लिख कर साहित्यकारों ने अपनी बातों को सार्वभौमिक सत्य बना देने का पूरा प्रयास किया है।हर सभ्यता का मूल्यांकन हम नहीं कर सकते हैं। सभ्यताओं में मिश्रण भी होना स्वाभाविक है, कोई पूछे कि क्या देवदासी प्रथा, वेश्या वृत्ति ,दहेज प्रथा, महिलाओं पर अत्याचार उनका शोषण पश्चिम की देन है!पश्चिम से हमने विज्ञान और तकनीक ली है, वहाँ से थोड़ा स्वच्छ रहने का भी ज्ञान ले लेते। सड़क पर थूकना, दीवार से सटकर पुरुषों का पेशाब करना, पालतू कुत्तों के लिये सार्वजनिक स्थानों को शौचालय बना देना तो कम से कम पश्चिम की देन नहीं है।जब तक हम अपने मुंह मियामिट्ठू बनना और कमियों को स्वीकारना नहीं सीखेंगे ,अतीत में जीते रहेंगे तब तक सामाजिक स्तर पर कोई सुधार नहीं कर सकेंगे।हमारे साहित्यकारों को पश्चिमी पहनावे पर ऐतराज है, ये सारी बुराइयों की जड़ है। पश्चिमी पहनावा अब वैश्विक पहनावा बन चुका है, क्योंकि वह अवसर के अनुकूल होता है ।पुरुषों ने तो न जाने कब से पैंट शर्ट सूट पहनना

शुरू कर दिया क्योंकि वह सुविधाजनक है पर औरतों ने जब बदलाव किया तो संस्कृति आड़े आ गई। हमेशा साड़ी मे सजी मांथे पर बड़ी सी बिंदी लगाये महिला बहुत सुदृढ़ चरित्र की होगी और यदि पश्चिमी पहनावा पहनती है तो वह दबंग किस्म की हो सकती है कमसे कम वह एक आम गृहिणी नहीं होगी।

भारत में जितना बुजुर्गों का सम्मान होता है, कहीं नहीं होता पर हमारे साहित्यकार बुजुर्गों को लेकर इतने संवेंदनशील हैं कि पूरी जवान पीढ़ी को अपराधबोध से ग्रस्त कराना चाहते हैं। किसी जवान का विदेश जाना अपराध ही की तरह पेश किया जाता रहा है। यदि जवान कहीं मौज मस्ती करें तो भी अपराध बोध से ग्रस्त रहें क्योंकि साहित्यकार के अनुसार उस चरित्र को माता पिता की सेवा करनी चाहिये थी, या उन्हे तीर्थ पर लेजाना चाहिये। अपने लिये कुछ करना भारत में स्वार्थी होने के बराबर ही माना जाता है। बहू तो कभी अच्छी हो ही नहीं सकती ये सब इस तरह से पेश करते हैं जैसे ये सार्वजनिक सत्य हों। जबकि एक हजार परिवारों में कंहीं कोई एक होगा जिसने अपने बुजुर्गों को संरक्षण न दिया हो ,पर समाचार जिस तरह नकारात्मक ही होते हैं, साहित्यकार की कहानी भी वहीं से नकारात्मक कथानक चुनती है।

जिस समय माता पता की उम्र 70 वर्ष के आस पास होगी तो उनकी संतान की आयु भी पचास के लगभग होगी इस समय वह इंसान घर, दफ्तर और परिवार की इतनी जिम्मेदारियों में घिरा होगा कि वह माता पिता को पर्याप्त समय नहीं दे पायेगा। अब हमारे साहित्यकार माता पिता के अहसान गिनायेंगे कि तुम्हे उन्होने उंगली पकड़ कर चलना सिखाया वगैरह.. अब उनका वक्त है.।हर बेटे या बेटी को अपने माता पिता की सुख, सुविधा, चिकित्सा के साधन जुटाने चाहिये ,अपनी समर्थ्य के अनुसार चाहें मातापिता के पास पैसा हो या नहो।बुजुर्गों को भी पहले से ही बढ़ती उम्र के लिये खुद को तैयार करना चाहिये। वह अपने बुढ़ापे में अकेलेपन से कैसे निपटेंगे क्योंकि बच्चों को और जवान होते हुए पोते पोती को उनके पास बैठने की फुर्सत नहीं होगी। यह सच्चाई यदि बुजुर्ग स्वीकार लें तो उन्हे किसी से कोई शिकायत नहीं होगी।

मैने जीवन में इसके विपरीत घटनायें भी देखी हैं, ऐसे पिता देखे हैं जो अपने सपने बच्चों पर थोपते है, जैसे पिता गायक नहीं बन सके तो वो अपनी पूरी शक्ति बेटे को गायक बनाने में लगा देंगे, यदि बेटे के अभिरुचि है तब तो ठीक है अन्यथा पिता का सपना पूरा करने के लिये न वो गायक बन पायेगा न कुछ और।बस जो वो चाहते वह बच्चे को बनाकर छोड़ेगें बच्चे की रुचि उसमे

है या नहीं, ये जानना जरूरी नहीं है, बच्चे के दिमाग मे बचपन से कूट कूट कर भर दिया जायेगा कि तुझे ये बनना है तो बनना है।

अच्छा होने और आदर्शों की दुहाई देने में फर्क होता है। संबध सफेद या काले नहीं होते हैं एक तरफ बेचारगी दूसरी तरफ आदर्श का ढ़ोग लिखना चाहे जितना अच्छा लगे पर पाठक की कोरी संवेदना जगाता है जिसका कोई सकारात्मक असर नहीं होता।ऐसी बहुएं भी जो व्यस्त होने के बावजूद सास ससुर की देखभाल करती हैं पर अगर सास ससुर की उम्मीदें आसमान छूने लगें तो बहू के कदम पीछे हटेंगे , स्वाभाविक है। रिश्तों में कोई सार्वभौमिक सत्य नहीं होता। माता कुमाता हो सकती है।परिवार के मान की रक्षा के नाम पर अपने बच्चों को मारने वाले माता पिता की बातें तो आये दिन अखघ्बारों में आती हैं।हमारी कहानियां और उपन्यास केवल संबधों को एक तरफा सार्वभौमिक सत्य की तरह स्थापित करने में लगे हैं।लीक से हटकर कुछ पढ़ने को मिलता ही नहीं है।

प्रेम भी एक ऐसा ही विषय है जिसे कवि जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानते हैं पर जो प्रेम साहित्य में या सिनेमा में दिखाया जाता है वह आम आदमी की जिन्दगी से बहुत अलग होता है। ये कविता, कहानियां किशोरावस्था में बहुत प्रभावित करती है। प्रेमी या प्रेमिका को अपना न बना पाने, अस्वीकृति को न झेल पाने पर हत्या ,आत्महत्या या तेजाब से आक्रमण इसी तरह की सोच परिणाम होती हैं।किशोर को लगता है कि फलां व्यक्ति उसे न मिला या उसने उसका प्रणय निवेदन अस्वीकार कर दिया वह जी नहीं पायेगा, जबकि ये सत्य नहीं है, कोई नहीं लिखता कि ये जीवन में घटने वाली आम घटनायें हैं, आगे बढ़ना जिन्दगी है। प्रेमी को प्रेमिका न मिलने पर खुद को या लड़की को नुकसान पंहुचाने का कोई हक नही हैं। साहित्य में प्रेम का एक विकृत रूप दिखाया जाता है, जिसका असर जाने अनजाने युवाओं पर पड़ता है जिससे वो गलत कदम उठा लेते हैं। साहित्यकार पूरी तरह कोई समाज सुधारक नहीं होता पर उसे युवाओं को सही रास्ता दिखाना चाहिये। कहीं न कहीं प्रेम में असफलता मिलने वाले जोड़े को आगे बढ़ने का संदेश मिलना चाहिये। एक व्यक्ति जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकता कि उसके लिये जान दी जाय या ले ली जाय या जिन्दगी भर दुखी रहा जाय। प्रेम का अर्थ संग साथ, विश्वास एक दूसरे की भावनाओं के आदर के साथ शारीरिक आकर्षण भी होता है। काहनियों के चरित्र इसी प्रकार उभरने चाहिये। प्रेम में दोनो आत्महत्या करें, नशेड़े हो जायें, ऐसिड फेंके, प्रेम के तीसरे कोण की हत्या करें तो ऐसे कथानक में लेखक को अपरोक्ष

रूप से इसकी भर्त्सना करनी चाहिये, कम से कम ऐसे प्रेम को गौरवान्वित तो बिलकुल भी नहीं करना चाहिये।

स्त्री और पुरुष के अधिकारों और संबधों के विषय में कोई सार्वभौमिक सिद्धांत हो सकता है तो केवल यह कि दोनों एक दूसरे के सम्मान देने के लिये वचनबद्ध हों।हमारे यहाँ अधिकतर नारी का बलिदान और शहीद होने वाला व्यक्तित्व गौरवान्वित किया जाता है जो पूजा पाठ करे ,खाना बनाये ,बच्चों के लिये हर समय बलिदान दे यदि वह अपनी खुशी के लिये कुछ करे, अपने शौक पूरे करे तो वह बहुत स्वार्थी होगी।

शादी के बिना पुरूष अधूरा है, मातृत्व के बिना औरत अधूरी है यह कहकर उन सभी महिलाओं को जो अविवाहित हैं या जिनके बच्चे नहीं है बार बार अधूरेपन का अहसास करवाकर इसे सार्वभौमिक सत्य के रूप सदियों से पाठकों को परोसा जा रहा है, जबकि ऐसी महिलायें भरपूर और खुशहाल जीवन बिता सकती हैं, बिता रही है, जबकि कोई पुरुष शादी के बिना या पिता बने बिना कभी अधूरा नहीं होता।

सामाजिक व्यवस्थायें निरंतर परिवर्तित होती हैं।जो व्यवहार कल सही नहीं समझा जाता था वो आज मान्य है।गाँव की मान्यतायें अलग होती हैं शहरों की अलग, परन्तु संचार के साधनों के कारण अब ये अँतर कम होगये हैं छोटे शहरों की लड़कियाँ पढ़ने या काम करने महानगरों में जाने लगी हैं।लड़के लड़कियों की मित्रता आम बात है। जोड़ियाँ बनती है टूटती हैं। लिव इन रिलेशन, विवाह से पूर्व शारीरिक संबध, विवाहेत्तर संबध समाज में हैं, तो इनपर कहानी उपन्यास लिखते समय साहित्यकार को कोई नैतिक भाषण न देकर चरित्रों के माध्यम से प्रतीकात्मक रूप मे सही गलत का परिणाम दिखाना चाहिये।

साहित्य और भाषा एक दूसरे से जुड़े हैं।कथानक और चरित्र चित्रण कथा साहित्य का आधार हैं पर इससे भी ज्यादा महत्त्व भाषा का है।कुछ साहित्कार भाषा की शुद्धता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं कुछ पात्रानुकूल भाषा के नाम पर कुछ भी लिखने से नहीं हिचकिचाते वो गाली भी हो सकती, कोई स्थानीय बोली भी हो सकती है और हिन्दी इंगलिश की मिली जुली खिचड़ी भी।इसबारे में सबके अलग अलग विचार हो सकते हैं।

भाषा की,शुद्धता व उसका व्याकरण सम्मत होना जरूरी है। यदि आपकी कहानी या उपन्यास की भाषा हिन्दी है तो कृति का शीर्षक हिन्दी में ही होने चाहियें इंगलिश के शब्दों का प्रयोग तभी होना चाहिये जब हिन्दी में सही शब्द

मिले ही नहीं। कुछ शब्द जैसे मशीन, कार,कम्प्यूटर, पैन या ट्रेन जैसे शब्दों के लिये हिन्दी के अव्यवाहरिक अनुवाद करने की जरूरत नहीं है। हिन्दी को हास्यास्पद नहीं बनाना चाहिये शुद्ध भाषा और साहित्यिक कहलाने के मोह में भाषा क्लिष्ट होगी तो, आम जनता उसे नहीं स्वीकारेगी इसलिय बोध गम्य होना भाषा का विशेष गुण है।

5

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल 'भारतीय इतिहास' के बदलते हुए स्वरूप से काफी प्रभावित था। 'भारतीय स्वतंत्रता संग्राम' और राष्ट्रीयता की भावना का प्रभाव भी साहित्य में आ गया था। भारत में औद्योगीकरण का प्रारंभ होने लगा था। आवागमन के साधनों का भी तेजी से विकास हुआ। अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव बढ़ा और जीवन में बदलाव आने लगा। ईश्वर के साथ-साथ मानव को महत्त्व दिया जाने लगा था। भावना के साथ-साथ विचारों को पर्याप्त प्रधानता मिली। पद्य के साथ ही गद्य का भी पर्याप्त विकास हुआ और छापेखाने के आते ही साहित्य के संसार में एक नयी क्रांति का बीजारोपण हुआ।

गद्य का विकास

आधुनिक हिन्दी गद्य का विकास केवल हिन्दी भाषी क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रह गया था। पूरे देश में और हर प्रदेश में हिन्दी की लोकप्रियता व्याप्त होने लगी थी और अनेक अन्य भाषी लेखकों ने भी हिन्दी में साहित्य की रचना करके इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। हिन्दी गद्य के विकास को निम्नलिखित चरणों में विभाजित किया जा सकता है-

भारतेन्दु पूर्व युग - (1800 ई. से 1850 ई. तक)
भारतेन्दु युग - (1850 ई. से 1900 ई. तक)
द्विवेदी युग - (1900 ई. से 1920 ई. तक)
रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रेमचन्द युग - (1920 ई. से 1936 ई. तक)
अद्यतन युग - (1936 ई. से आज तक)

भारतेन्दु पूर्व युग

हिन्दी में गद्य का विकास 19वीं शताब्दी के आसपास हुआ। इस विकास में कलकत्ता (आधुनिक कोलकाता) के 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी। इस कॉलेज के दो विद्वानों लल्लूलाल तथा सदल मिश्र ने गिल क्राइस्ट के निर्देशन में क्रमशः 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तकें तैयार कीं। इसी समय सदासुखलाल ने 'सुखसागर' तथा मुंशी इंशा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की। इन सभी ग्रंथों की भाषा में उस समय प्रयोग में आने वाली खड़ी बोली को स्थान मिला। आधुनिक खड़ी बोली के गद्य के विकास में विभिन्न धर्मों की परिचयात्मक पुस्तकों का खूब सहयोग रहा, जिसमें ईसाई धर्म का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था। बंगाल के राजा राममोहन राय ने 1815 ई. में 'वेदांतसूत्र' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसके बाद उन्होंने 1829 में 'बंगदूत' नामक पत्र हिन्दी में निकाला। इसके पहले ही 1826 में कानपुर के पं. जुगल किशोर ने हिन्दी का पहला समाचार पत्र श्उदंत मार्तंड' कलकत्ता से निकाला था। इसी समय गुजराती भाषी 'आर्य समाज' के संस्थापक स्वामी दयानंद ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में लिखा।

भारतेन्दु युग

भारतेन्दु हरिश्चंद्र (1855-1885) को हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। उन्होंने 'कविवचन सुधा' 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 'हरिश्चंद्र पत्रिका' भी निकाली थीं। इसके साथ ही अनेक नाटकों आदि की रचना भी की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रसिद्ध नाटक हैं- 'चंद्रावली' 'भारत दुर्दशा' और 'अंधेर नगरी' आदि। ये नाटक रंगमंच पर भी बहुत लोकप्रिय हुए। इस काल में निबंध, नाटक, उपन्यास तथा कहानियों की रचना हुई। इस काल के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, उपाध्याय बदरीनाथ चौधरी 'प्रेमघन' लाला श्रीनिवास दास, देवकीनन्दन खत्री

और किशोरी लाल गोस्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश लेखक होने के साथ-साथ पत्रकार भी थे। श्रीनिवासदास के उपन्यास 'परीक्षागुरू' को हिन्दी का पहला उपन्यास कहा जाता है। कुछ विद्वान् श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास 'भाग्यवती' को भी हिन्दी का पहला उपन्यास स्वीकार करते हैं। देवकीनंदन खत्री का 'चंद्रकांता' तथा 'चंद्रकांता संतति' आदि इस युग के प्रमुख उपन्यास हैं। ये उपन्यास इतने अधिक लोकप्रिय हुए थे कि इनको पढ़ने के लिये ऐसे अहिन्दी लोग, जो हिन्दी पढ़ना-लिखना आदि नहीं जानते थे, उन्होंने हिन्दी भाषा सीखनी शुरू कर दी थी। इस युग की कहानियों में शिवप्रसाद सितारे हिन्द की 'राजा भोज का सपना' महत्त्वपूर्ण है।

द्विवेदी युग

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस युग का नाम 'द्विवेदी युग' रखा गया था। सन 1903 में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' नामक पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बड़े समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ। द्विवेदी युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, 'श्यामसुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बाल मुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्ण सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं, किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है। हिन्दी कहानी का वास्तविक विकास 'द्विवेदी युग' से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की 'इंदुमती कहानी' को कुछ विद्वान् हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में 'बंग महिला की दुलाई वाली' रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा कुछ नाटक आदि भी लिखे गए थे।

रामचन्द्र शुक्ल एवं प्रेमचंद युग

गद्य के विकास में इस युग का विशेष महत्त्व है। रामचंद्र शुक्ल ने निबंध, हिन्दी साहित्य के इतिहास और समालोचना के क्षेत्र में गंभीर लेखन किया।

उन्होंने मनोविकारों पर हिन्दी में पहली बार निबंध लेखन किया। साहित्य समीक्षा से संबंधित निबंधों की भी रचना की। उनके निबंधों में भाव और विचार अर्थात् बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय है। हिन्दी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा गया उनका इतिहास आज भी अपनी सार्थकता बनाए हुए है। मलिक मुहम्मद जायसी, तुलसीदास और सूरदास पर लिखी गयी उनकी आलोचनाओं ने भावी आलोचकों का मार्गदर्शन किया। इस काल के अन्य निबंधकारों में जैनेन्द्र कुमार जैन, सियारामशरण गुप्त, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और जयशंकर प्रसाद आदि उल्लेखनीय हैं। कथा साहित्य के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त प्रेमचंद ने क्रांति ही कर डाली।

कथा साहित्य केवल मनोरंजन, कौतूहल और नीति का विषय ही नहीं रहा था, बल्कि सीधे जीवन की समस्याओं से जुड़ गया। मुंशी प्रेमचन्द ने 'सेवा सदन' 'रंगभूमि' 'निर्मला' 'गबन' एवं 'गोदान' आदि उपन्यासों की रचना की। उनकी तीन सौ से अधिक कहानियाँ 'मानसरोवर' के आठ भागों में तथा 'गुप्तधन' के दो भागों में संग्रहित हैं। 'पूस की रात' 'कफन' 'शतरंज के खिलाड़ी' 'पंच परमेश्वर' 'नमक का दरोगा' तथा 'ईदगाह' आदि उनकी कहानियाँ खूब लोकप्रिय हुयीं। इस काल के अन्य कथाकारों में विश्वंभर शर्मा 'कौशिक' वृंदावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' उपेन्द्रनाथ अश्क, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का विशेष स्थान है। इनके 'चंद्रगुप्त' 'स्कंदगुप्त' 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और कल्पना तथा भारतीय और पाश्चात्य नाट्य पद्धतियों का समन्वय हुआ है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचंद्र माथुर आदि इस काल के उल्लेखनीय नाटककार हैं।

अद्यतन काल

इस काल में गद्य का चहुँमुखी विकास हुआ। हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, नंददुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा रामविलास शर्मा आदि ने विचारात्मक निबंधों की रचना की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कन्है, यालाल मिश्र प्रभाकर, विवेकी राय और कुबेरनाथ राय ने ललित निबंधों की रचना की है। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवींन्द्रनाथ त्यागी तथा के. पी. सक्सेना, के व्यंग्य आज के जीवन की विद्रूपताओं

के उद्घाटन में सफल हुए हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव और भगवती चरण वर्मा ने उल्लेखनीय उपन्यासों की रचना की। नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, अमृतराय तथा राही मासूम रजा ने लोकप्रिय आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त आदि ने आधुनिक भाव बोध वाले अनेक उपन्यासों और कहानियों की रचना की है। अमरकांत, निर्मल वर्मा तथा ज्ञानरंजन आदि भी नए कथा साहित्य के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं।

प्रसादोत्तर नाटकों के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकांत वर्मा तथा मोहन राकेश के नाम उल्लेखनीय हैं। कन्है, यालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने संस्मरण, रेखाचित्र व जीवनी आदि की रचना की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा तथा नामवर सिंह ने हिन्दी समालोचना को समृद्ध किया। आज गद्य की अनेक नयी विधाओं, जैसे– यात्रा वृत्तांत, रिपोर्ताज, रेडियो रूपक, आलेख आदि में विपुल साहित्य की रचना हो रही है और गद्य की विधाएँ एक दूसरे से मिल रही हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में पद्य का विकास

आधुनिक काल में लिखी जाने वाली कविता को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है–

नवजागरण काल (भारतेन्दु युग) - 1850 ई. से 1900 ई. तक
सुधार काल (द्विवेदी युग) - 1900 ई. से 1920 ई. तक
छायावादी युग - 1920 ई. से 1936 ई. तक
प्रगतिवाद–प्रयोगवाद - 1936 ई. से 1953 ई. तक
नई कविता व समकालीन कविता - 1953 ई. से अब तक

नवजागरण काल (भारतेन्दु युग)

इस काल की कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह पहली बार जन–जीवन की समस्याओं से सीधे जुड़ती है। इसमें भक्ति और शृंगार के साथ साथ समाज सुधार की भावना भी अभिव्यक्त हुई। पारंपरिक विषयों की कविता का माध्यम ब्रजभाषा ही रही, लेकिन जहाँ ये कविताएँ नवजागरण के स्वर की अभिव्यक्ति करती हैं, वहाँ इनकी भाषा हिन्दी हो जाती है। कवियों में भारतेन्दु

हरिश्चंद्र का व्यक्तित्व प्रधान रहा। उन्हें नवजागरण का अग्रदूत कहा जाता है। प्रताप नारायण मिश्र ने हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान की वकालत की। अन्य कवियों में उपाध्याय, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के नाम उल्लेखनीय हैं।

सुधार काल (द्विवेदी युग)

हिन्दी कविता को नया रंगरूप देने में श्रीधर पाठक का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्हें 'प्रथम स्वच्छंदतावादी कवि' कहा जाता है। उनकी 'एकांत योगी' और 'कश्मीर सुषमा' खड़ी बोली की सुप्रसिद्ध रचनाएँ हैं। रामनरेश द्विवेदी ने अपने 'पथिक मिलन' और 'स्वप्न' महाकाव्यों में इस धारा का विकास किया। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'प्रिय प्रवास' को खड़ी बोली का पहला महाकाव्य माना गया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ी बोली में अनेक काव्यों की रचना की। इन काव्यों में 'भारत भारती' 'साकेत' 'जयद्रथ वध' 'पंचवटी' और 'जयभारत' आदि उल्लेखनीय हैं। उनकी 'भारत भारती' में स्वाधीनता आंदोलन की ललकार है। राष्ट्रीय प्रेम उनकी कविताओं का प्रमुख स्वर है। इस काल के अन्य कवियों में सियाराम शरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, नाथूराम शंकर शर्मा तथा गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

छायावादी युग

कविता की दृष्टि से इस काल में एक दूसरी धारा भी थी, जो सीधे-सीधे स्वाधीनता आंदोलन से जुड़ी थी। इसमें माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' नरेन्द्र शर्मा, रामधारी सिंह 'दिनकर' श्रीकृष्ण सरल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस युग की प्रमुख कृतियों में जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' और 'आँसू' सुमित्रानंदन पंत का 'पल्लव' 'गुंजन' और 'वीणा' सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की 'गीतिका' और 'अनामिका' तथा महादेवी वर्मा की 'यामा' 'दीपशिखा' और 'सांध्यगीत' आदि कृतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। 'कामायनी' को आधुनिक काल का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य कहा जाता है। छायावादोत्तर काल में हरिवंशराय बच्चन का नाम उल्लेखनीय है। छायावादी काव्य में आत्मपरकता, प्रकृति के अनेक रूपों का सजीव चित्रण, विश्व मानवता के प्रति प्रेम आदि की अभिव्यक्ति हुई है। इसी काल में मानव मन सूक्ष्म भावों को प्रकट करने की क्षमता हिन्दी भाषा में विकसित हुई।

प्रगतिवाद

वर्ष 1936 के आस-पास से कविता के क्षेत्र में बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ा। प्रगतिवाद ने कविता को जीवन के यथार्थ से जोड़ा। प्रगतिवादी कवि कार्ल मार्क्स की समाजवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। युग की मांग के अनुरूप छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने अपनी बाद की रचनाओं में प्रगतिवाद का साथ दिया। नरेंद्र शर्मा और दिनकरजी ने भी अनेक प्रगतिवादी रचनाएँ कीं। प्रगतिवाद के प्रति समर्पित कवियों में केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह, रामविलास शर्मा, त्रिलोचन शास्त्री और गजानन माधव 'मुक्तिबोध' के नाम उल्लेखनीय हैं। इस धारा में समाज के शोषित वर्ग मजदूर और किसानों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गयी। धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक विषमता पर चोट की गयी और हिन्दी कविता एक बार फिर खेतों और खलिहानों से जुड़ गई।

प्रयोगवाद

प्रगतिवाद के समानांतर प्रयोगवाद की धारा भी प्रवाहित हुई। अज्ञेय को इस धारा का प्रवर्तक स्वीकर किया गया। सन 1943 में अज्ञेय ने 'तार सप्तक' का प्रकाशन किया। इसके सात कवियों में प्रगतिवादी कवि अधिक थे। रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, नेमिचंद जैन, गजानन माधव 'मुक्तिबोध' गिरिजाकुमार माथुर और भारतभूषण अग्रवाल ये सभी कवि प्रगतिवादी हैं। इन कवियों ने कथ्य और अभिव्यक्ति की दृष्टि से अनेक नवीन प्रयोग किये। अतः श्तार सप्तक' को प्रयोगवाद का आधार ग्रंथ माना गया। अज्ञेय द्वारा संपादित 'प्रतीक' में इन कवियों की अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं।

नई कविता और समकालीन कविता

सन 1953 ई. में इलाहाबाद से 'नई कविता' पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इस पत्रिका में नई कविता को प्रयोगवाद से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित किया गया। दूसरा सप्तक (1951), तीसरा सप्तक (1951) तथा चौथे सप्तक के कवियों को भी नए कवि कहा गया। वस्तुतः नई कविता को प्रयोगवाद का ही भिन्न रूप माना जाता है। इसमें भी दो धराएँ परिलक्षित होती हैं-

वैयक्तिकता को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करने वाली धारा - इसमें अज्ञेय, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण, श्रीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त प्रमुख हैं।

प्रगतिशील धारा – जिसमें गजानन माधव 'मुक्तिबोध' रामविलास शर्मा, नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन शास्त्री, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह तथा सुदामा पांडेय धूमिल आदि उल्लेखनीय हैं।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना में इन दोनों धराओं का मेल दिखाई पड़ता है। इन दोनों ही धाराओं में अनुभव की प्रामाणिकता, लघुमानव की प्रतिष्ठा तथा बौधिकता का आग्रह आदि प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। साधारण बोलचाल की शब्दावली में असाधारण अर्थ भर देना इनकी भाषा की विशेषता है। समकालीन कविता में गीत, नवगीत और गजल की ओर रुझान बढ़ा है। आज हिन्दी की निरंतर गतिशील और व्यापक होती हुई काव्य धारा संपूर्ण भारत के सभी प्रदेशों के साथ ही साथ संपूर्ण विश्व में लोकिप्रिय हो रही है। इसमें आज देश विदेश में रहने वाले अनेक नागरिकताओं के असंख्य विद्वानों और प्रवासी भारतीयों का योगदान निरंतर जारी है।

भारतेन्दु युग

आधुनिक हिंदी काव्य के प्रथम चरण को 'भारतेन्दु युग' की संज्ञा प्रदान की गई है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र को हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। उन्होंने 'कविवचन सुधा' 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 'हरिश्चंद्र पत्रिका' भी निकाली। इसके साथ ही अनेक नाटकों आदि की रचना भी की। भारतेन्दु युग में निबंध, नाटक, उपन्यास तथा कहानियों की रचना हुई।

नवजागरण काल

भारतेंदु काल को 'नवजागरण काल' भी कहा गया है। हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के संक्राति काल के दो पक्ष हैं। इस समय के दरम्यान एक और प्राचीन परिपाटी में काव्य रचना होती रही और दूसरी ओर सामाजिक राजनीतिक क्षेत्रों में जो सक्रियता बढ़ रही थी और परिस्थितियों के बदलाव के कारण जिन नये विचारों का प्रसार हो रहा था, उनका भी धीरे-धीरे साहित्य पर प्रभाव पड़ने लगा था। प्रारंभ के 25 वर्षों (1843 से 1868) तक साहित्य पर यह प्रभाव बहुत कम पड़ा, किन्तु सन 1868 के बाद नवजागरण के लक्षण अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे थे। विचारों में इस परिवर्तन का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को है। इसलिए इस युग को 'भारतेन्दु युग' भी कहते हैं। भारतेन्दु के पहले ब्रजभाषा में भक्ति और श्रृंखला परक रचनाएँ होती थीं और लक्षण ग्रंथ भी लिखे जाते

थे। भारतेन्दु के समय से काव्य के विषय चयन में व्यापकता और विविधता आई। श्रृंगारिकता, रीतिबद्धता में कमी आई। राष्ट्र-प्रेम, भाषा-प्रेम और स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम कवियों के मन में भी पैदा होने लगा। उनका ध्यान सामाजिक समस्याओं और उनके समाधान की ओर भी गया। इस प्रकार उन्होंने सामाजिक राजनीतिक क्षेत्रों में गतिशील नवजागरण को अपनी रचनाओं के द्वारा प्रोत्साहित किया।

प्रमुख कवि

भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बाबा सुमेर सिंह, बदरी नारायण प्रेमघन (1855-1923), प्रताप नारायण मिश्र (1856-1894), राधाकृष्ण दास (1865-1907), अंबिका दत्त व्यास (1858-1900) और ठाकुर जगमोहन सिंह (1857-1899) इस युग के प्रमुख कवि थे। अन्य कवियों में रामकृष्ण वर्मा, श्री निवासदास, लाला सीताराम, राय देवी प्रसाद, बालमुकुंद गुप्त, नवनीत चौबे आदि हैं। इस काल के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, राधा चरण गोस्वामी, उपाध्याय बदरीनाथ चौधरी 'प्रेमघन' लाला श्रीनिवास दास, देवकीनन्दन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश लेखक होने के साथ-साथ पत्रकार भी थे।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र का योगदान

भारतेन्दु युग के पूर्व कविता में रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। अतिशय श्रृंगारिकता, अलंकार मोह, रीति निरुपण एवं चमत्कारप्रियता के कारण कविता जन-जीवन से कट गई थी। देशी रियासतों के संरक्षण में रहने वाले कविगण रीतिकाल के व्यामोह से न तो उबरना चाहते थे और न ही उबरने का प्रयास कर रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में भारतेन्दु जी का काव्य-क्षेत्र में पदार्पण वस्तुतः आधुनिक हिन्दी काव्य के लिये वरदान सिद्ध हुआ। उन्होंने काव्य क्षेत्र को आधुनिक विषयों से संपन्न किया और रीति की बँधी-बँधायी परिपाटी से कविता-सुन्दरी को मुक्त करके ताजी हवा में साँस लेने का सुअवसर प्रदान किया। भारतेन्दु युग में परंपरागत धार्मिकता और भक्ति भावना को अपेक्षतः गौण स्थान प्राप्त हुआ, फिर भी इस काल के भक्ति काव्य को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता हैं-

1. निर्गुण भक्ति
2. वैष्णव भक्ति
3. स्वदेशानुराग–समन्वित ईश्वर–भक्ति।

इस युग में हास्य–व्यंग्यात्मक कविताओं की भी प्रचुर परिणाम में रचना हुई।

भारतेन्दु युग के कवियों की सबसे बड़ी साहित्यिक देन केवल यही मानी जा सकती है कि उन्होंने कविता को रीतिकालीन परिवेश से मुक्त करके समसामयिक जीवन से जोड़ दिया। भारतेन्दु आधुनिक काल के जनक थे और भारतेन्दु युग के अन्य कवि उनके प्रभामंडल में विचरण करने वाले ऐसे नक्षत्र थे, जिन्होंने अपनी खुली आँखों से जन–जीवन को देखकर उसे अपनी कविता का विषय बनाया। इस काल में कविता और जीवन के निकट का संबंध स्थापित हुआ और यही इस कविता का महत्त्व है।,

छायावादी युग

छायावादी युग (1920–1936) प्राय: 'द्विवेदी युग' के बाद के समय को कहा जाता है। बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध छायावादी कवियों का उत्थान काल था। इस युग को जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानंदन पंत जैसे छायावादी प्रकृति उपासक–सौन्दर्य पूजक कवियों का युग कहा जाता है। 'द्विवेदी युग' की प्रतिक्रिया का परिणाम ही 'छायावादी युग' है। इस युग में हिन्दी साहित्य में गद्य गीतों, भाव तरलता, रहस्यात्मक और मर्मस्पर्शी कल्पना, राष्ट्रीयता और स्वतंत्र चिन्तन आदि का समावेश होता चला गया। इस समय की हिन्दी कविता के अंतरंग और बहिरंग में एकदम परिवर्तन हो गया। वस्तु निरूपण के स्थान पर अनुभूति निरूपण को प्रधानता प्राप्त हुई थी। प्रकृति का प्राणमय प्रदेश कविता में आया। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' सुमित्रानन्दन पंत और महादेवी वर्मा 'छायावादी युग' के चार प्रमुख स्तंभ माने जाते हैं।

मुख्य कवि और उनकी रचनाएँ

जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा इस युग के चार प्रमुख स्तंभ कहे जाते हैं। 'छायावाद' का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिन्दी काव्य क्षेत्र में चलने वाली महादेवी वर्मा

ही हैं। रामकुमार वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, हरिवंशराय बच्चन और रामधारी सिंह दिनकर को भी 'छायावाद' ने प्रभावित किया। किंतु रामकुमार वर्मा आगे चलकर नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हुए माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रवादी धारा की ओर रहे बच्चन ने प्रेम के राग को मुखर किया और दिनकर जी ने विद्रोह की आग को आवाज दी। अन्य कवियों में हरिकृष्ण 'प्रेमी' जानकी वल्लभ शास्त्री, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाएँ निम्नानुसार हैं-

जयशंकर प्रसाद (1889-1936 ई.) के काव्य संग्रह-

'चित्राधार' (ब्रज भाषा में रचित कविताएँ), 'कानन-कुसुम' 'महाराणा का महत्त्व' 'करुणालय' 'झरना' 'आंसू' 'लहर' और 'कामायनी'।

सुमित्रानंदन पंत (1900-1977ई.) के काव्य संग्रह-

'वीणा' 'ग्रंथि' 'पल्लव' 'गुंजन' 'युगांत' 'युगवाणी' 'ग्राम्या' 'स्वर्ण-किरण' 'स्वर्ण-धूलि' 'युगान्तर' 'उत्तरा' 'रजत-शिखर' 'शिल्पी' 'प्रतिमा' 'सौवर्ण' 'वाणी' 'चिदंबरा' 'रश्मिबंध' 'कला और बूढ़ा चाँद' 'अभिषेकित' 'हरीश सुरी सुनहरी टेर' 'लोकायतन' 'किरण वीणा'।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (1898-1961 ई.) के काव्य-संग्रह-

'अनामिका' 'परिमल' 'गीतिका' 'तुलसीदास' 'आराधना' 'कुकुरमुत्ता' 'अणिमा' 'नए पत्ते' 'बेला' 'अर्चना'।

महादेवी वर्मा (1907-1988 ई.) की काव्य रचनाएँ-

'रश्मि' 'निहार' 'नीरजा' 'सांध्यगीत' 'दीपशिखा' 'यामा'।

डॉ. रामकुमार वर्मा की काव्य रचनाएँ-

'अंजलि' 'रूपराशि' 'चितौड़ की चिता' 'चंद्रकिरण' 'अभिशाप' 'निशीथ' 'चित्ररेखा' 'वीर हमीर' 'एकलव्य'।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' की काव्य रचनाएँ-

'आखों में' 'अनंत के पथ पर' 'रूपदर्शन' 'जादूगरनी' 'अग्निगान' 'स्वर्णविहान'।

काव्य की प्रवृत्तियाँ

वैयक्तिकता
प्रकृति-सौंदर्य और प्रेम की व्यंजना
शृंगारिकता
रहस्यानुभूति
तत्त्व चिंतन
वेदना और करुणा की विवृत्ति
मानवतावादी दृष्टिकोण
नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण
आदर्शवाद
स्वच्छंदतावाद
देश-प्रेम एवं राष्ट्रीय भावना
प्रतीकात्मकता
चित्रात्मक भाषा एवं लाक्षणिक पदावली
गेयता
अलंकार-विधान

ब्रज भाषा का काव्य

'छायावादी युग' में कवियों का एक वर्ग ऐसा भी था, जो सूरदास, तुलसीदास, सेनापति, बिहारी और घनानंद जैसी समर्थ प्रतिभा संपन्न काव्य-धारा को जीवित रखने के लिए ब्रजभाषा में काव्य रचना कर रहे थे। 'भारतेंदु युग' में जहाँ ब्रजभाषा का काव्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया, वहीं छायावाद आते-आते ब्रजभाषा में गौण रूप से काव्य रचना लिखी जाती रहीं। इन कवियों का मत था कि ब्रजभाषा में काव्य की लंबी परम्परा ने उसे काव्य के अनुकूल बना दिया है। छायावादी युग में ब्रजभाषा में काव्य रचना करने वाले कवियों में रामनाथ जोतिसी, रामचंद्र शुक्ल, राय कृष्णदास, जगदंबा प्रसाद मिश्र 'हितैषी' दुलारे लाल भार्गव, वियोगी हरि, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' अनूप शर्मा, रामेश्वर 'करुण' किशोरीदास वाजपेयी, उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' प्रमुख हैं।

रामनाथ जोतिसी की रचनाओं में 'रामचंद्रोदय' मुख्य है। इसमें रामकथा को युग के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है। इस काव्य पर केशव की 'रामचंद्रिका' का प्रभाव लक्षित होता है। विभिन्न छंदों का सफल प्रयोग हुआ है।

रामचंद्र शुक्ल, जो मूलतः आलोचक थे, ने 'एडविन आर्नल्ड' के आख्यान काव्य 'लाइट ऑफ एशिया' का 'बुद्धचरितश शीर्षक से भावानुवाद किया। शुक्ल जी की भाषा सरल और व्यावहारिक है।

राय कृष्णदास कृत 'ब्रजरस' जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी' द्वारा रचित 'कवित्त-सवैये' और दुलारेलाल भार्गव की 'दुलारे-दोहावली' इस काल की प्रमुख व उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

वियोगी हरि की 'वीर सतसई' में राष्ट्रीय भावनाओं की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अनेक स्फुट रचनाएँ लिखीं। लेकिन इनका ब्रजभाषा का वैशिष्टय 'ऊर्मिला' महाकाव्य में लक्षित होता है, जहाँ इन्होंने उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र-चित्रण किया है।

अनूप शर्मा के चम्पू काव्य 'फेरि-मिलिबो' (1938) में कुरुक्षेत्र में राधा और कृष्ण के पुनर्मिलन का मार्मिक वर्णन है।

रामेश्वर 'करुण' की 'करुण-सतसई' (1930) में करुणा, अनुभूति की तीव्रता और समस्यामूलक अनेक व्यंग्यों को देखा जा सकता है।

किशोरी दास वाजपेयी की 'तरंगिणी' में रचना की दृष्टि से प्राचीनता और नवीनता का सुंदर समन्वय देखा जा सकता है।

उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' की रचनाओं में भी भाषा और संवेदना की दृष्टि से नवीनता दिखाई पड़ती है।

इन रचनाओं में नवीनता और छायावादी काव्य की सूक्ष्मता प्रकट हुई है, यदि इस भाषा का काव्य परिमाण में अधिक होता तो यह काल ब्रजभाषा का छायावाद साबित होता।

6

कहानी स्वरूप एवं संवेदना

विदेशी विद्वानों के अनुसार

पाश्चात्य आलोचक हडसन के अनुसार – ''कहानी उसी को कहेंगे जो एक बैठक में सरलता से पढ़ी जा सके।'' आर. फ्रांसिस फोस्टर के अनुसार – ''कहानी जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना एवं विषम परिस्थितियों का संक्षिप्त विवरण और मनुष्य के भीतर स्थित आधारभूत गुणों को प्रदर्शित करती है।'' एच. जी. वेल्स के अनुसार – ''कहानी को आकार में अधिक से अधिक इतना बड़ा होना चाहिये कि वह सरलता से बीस मिनट में पढ़ी जा सके।'' सर हूफ वाल्पोल के अनुसार – ''कहानी–कहानी होनी चाहिये अर्थात उसमें घटित होने वाली वस्तुओं का ऐसा लेखा जोखा होना चाहिये जो घटना और आकस्मिकता से परिपूर्ण हो। उसमें प्रगति का ऐसा अप्रत्याशित विकास हो जो कुतूहल के द्वारा सार और संतोष को पूर्ण आस्था तक ले जाये।''

भारतीय विद्वानों के मतानुसार

प्रेमचन्द्र के अनुसार ''कहानी एक रचना है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा विन्यास सब उसी भाव को पुष्ट करते

है।'' जयशंकर प्रसाद के शब्दों में ''सौन्दर्य की एक झलक का चित्रण करना और उसके द्वारा रस की सृष्टि करना ही कहानी का उद्देश्य है।''

राय कृष्ण दास – ''कहानी मनोरंजन के साथ-साथ किसी न किसी सत्य का उद्घाटन करती है तथा आख्यायिका में सौन्दर्य की एक झलक का रस है।

जैनेन्द्र कुमार – ''कहानी एक भूख है जो निरंतर समाधान पाने की कोशिश में रहती है। हमारे अपने सवाल होते हैं शंकायें होती है, चिन्ताएँ होती है और हम उनका उत्तर उनका समाधान खोजने का, पाने का सतत प्रयत्न करते रहते है। हमारे प्रयोग होते रहते है। उदाहरणों और मिशालों की खोज होती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्नों का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नहीं देती, पर यह अलबत्ता कहती है कि शायद उस रास्ते मिले। वह सूचक होती है, कुछ सुझाव देती है और पाठक अपनी चिन्तन क्रिया से उसे सूझ को ले लेते हैं।

इस प्रकार समाज की विषमताओं को देखते हुये कहानीकारों ने अनेक प्रकार की कहानी समाज के सामने प्रस्तुत की। कहानियों में उच्च मानववाद का प्रतिपादन किया किन्तु यह मानववाद यथार्थ के सहारे आदर्श की ओर विकसित हुआ है। समाज के निम्न वर्ग की अनेक प्रकार की समस्यायें उसके जीवन के विभिन्न प्रकार के रूपों को प्रस्तुत करते हुये आदर्शवाद का संकेत करते हैं। उनकी दृष्टि इतनी पैनी है कि समाज का कोई रूप उनसे छिपा नहीं है जैसे – ताँगे वाला, किसान, श्रमिक, विद्यार्थी, डाक्टर, वकील, व्यापारी, अधिकारी आदि के विविध रूपों को वे अपनी कहानी के माध्यम से चित्रित करने में पूर्णतया सफल रहे हैं।

''कथा साहित्य के आदि छोर को पकड़ने की इच्छा रखने वाले पाठकों की कसौटी में खरी उतरने वाली कहानियाँ मानवता के आदि ग्रन्थ वेदों तक में भी मिलती हैं, परन्तु इस कला का परिपूर्ण विकास आधुनिक युग की देन है।''

(1) कहानी से नयी कहानी तक की विकास यात्रा वस्तुतः नूतन भाव-भूमियों के अन्वेषण का एक साहित्यिक अनुष्ठान है। यथार्थ तो यह है कि आधुनिक व्यस्त एवं गतिशील जीवन के विविध परिवेशों के पकड़ने में अनेक सुविख्यात कहानीकार तक असफल हो रहे हैं।''

(2) जिस गति से जीवन भाग रहा है उसी गति से नयी कहानी का कथ्य, शिल्प, बिम्ब, यथार्थ एवं भाव बोध भी भाग रहा है। इस स्थिति में आधुनिक कहानीकार अनुभूतियों की समसामयिकता को जितना भी पकड़

पाता है उसे वह पाठक तक संप्रेषित कर देता है। आज अपने अभावों की पूर्ति एवं इच्छाओं की तृप्ति हेतु प्रत्येक मनुष्य संघर्षरत है। नयी कहानी ने इसी संघर्षरत मनुष्य को पकड़ा है।

मानव विद्रोह की चीख पुकार और परिवर्तित परिवेश की विसंगतियों ने कहानीकारों को उसका दायित्वबोध करते हुए आधुनिक व्यक्ति के हृदय, मस्तिष्क चेतना और अन्तः चेतना की सूक्ष्म विवेचना का अवसर दिया। ''स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सार्थक कहानी लेखन की दिशा में एक गम्भीर और महत्त्वपूर्ण प्रयास होने के कारण नयी कहानी आन्दोलन से सम्बद्ध लेखकों ने अनेक सशक्त कहानियाँ लिखीं। यही नहीं उन्होंने सामाजिक यथार्थ के कुछ ऐसे आयामों को रेखांकित किया जिनकी ओर पहले के लेखकों का ध्यान पूरी तरह नहीं गया था।

(3) नये कहानीकारों का अनुभव यदि एक सीमित दायरें में होता तो वह जीवन सत्य को इतनी सूक्ष्मता से कभी नहीं पकड़ पाता जितना कि पकड़े हुए है। जीवन सत्य की सूक्ष्म पकड़ के कारण ही नयी कहानी आज भी जीवन की मुख्य धारा से अनुस्यूत है तथा विभिन्न विकृतियों से उत्पीड़ित होने के पश्चात् भी आदमी का आत्म सम्मान उसके अचेतन में अकुण्ठित ही है। इस दृष्टि से नयी कहानी व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व का सही बोध करा सकी तो यही मोड़ किसी भाषा और उसके साहित्य के लिए एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। ''आधुनिक कहानी यथार्थबोध की जटिलतम समस्याओं से निरन्तर अनुप्राणित है।''

(4) ''आधुनिक कहानीकार के लिए कहानी अभिव्यक्ति होती है मात्र घटना नहीं।''

(5) स्वतंत्रता के उपरांत सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, वैयक्तिक शैक्षणिक एवं राजनैतिक दृष्टि से आदमी के जीवन में जो अराजकता एवं अशांति आयी उसके कारण चारों ओर सताया हुआ आदमी ही दृष्टिगोचर होता है, निरन्तर बढ़ते हुए भ्रष्टाचार एवं स्वार्थ ने आदमी के अस्तित्व, सम्बन्धों एवं विश्वास पर जमकर प्रहार किये। ''नयी कहानी हिन्दी कहानी का इतिहास नहीं है, यह कहानी के विकास की श्रृंखला की एक कड़ी है।''

(6) स्वातन्त्रयोत्तर भारतीय समाज में एक बड़ा परिवर्तन यथार्थ रुप में कहानी चित्रण था। ''सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों में आने वाले परिवर्तन को लेकर जो कहानियाँ लिखी गयीं, उनमें पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व

करने वाले वे पात्र हैं, जो अभी तक परम्परागत जीवन मूल्यों से चिपटे हुए हैं।

(7) वर्तमान समय में विषमताओं के तमाम तथ्यों को न निगल सकने के कारण जहाँ नई पीढ़ी अभाव, अनास्था, निराशा एवं कुंठा के क्षणों को जीने के लिए विवश हुई, वहाँ शिक्षातन्त्र की रोटी खाने वाले बुद्धिजीवी प्रजातन्त्र का खुला तमाशा देखकर भी कुछ न कर सकने की स्थिति में हैं। इस प्रकार इस असंतुष्ट आदमी की अनास्था, कुंठा विद्रोह एवं प्रतिकार की भावना ही नयी कहानी का कथ्य है। ''स्वतंत्रता के बाद तरुण लेखकों की नई पीढ़ी ने एक नये समाज को देखा जिसमें भेड़िया-संघर्ष, अवसरवादिता और स्वार्थपरता का बोलबाला था – हर स्थिति में सत्ता हासिल हो, इसमें योग्यता या अयोग्यता का कोई सवाल नहीं – क्या यही हमारी स्वतंत्रता का वास्तविक रुप है ?''

(8) आजादी के उपरान्त पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी समानाधिकार मिला तो उनके जीवन में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। जब उनके पैरों से बन्धन की बेड़ियाँ खुल गयीं तो उनका कार्यक्षेत्र मात्र गृहस्थी तक ही सीमित नहीं रहा। नये कहानीकारों ने प्रायः अपने-अपने दृष्टिकोणों से इन स्त्रियों के जीवन को आधार बनाकर अनेक कहानियाँ लिखीं ऐसी कहानियाँ जो नौकरीपेशा स्त्री के जीवन की सच्चाई से भरी हुई हैं। उसमें मोहन राकेश कृत – ''एक और जिन्दगी, सुहागनें, मिसपास'', कमलेश्वर कृत – ''तलाश'', राजेन्द्र यादव कृत – ''खेल, प्रतीक्षा, छोटे-छोटे ताजमहल टूटना'', ऊषा प्रियम्बदा कृत – ''नींद, झूठा दर्पण, पूर्ति, एक और विदाई, नागफनी के फूल,'' मन्नू भण्डारी कृत – ''क्षय, जीती बाजी की हार'', शांति मेहरोत्रा कृत – ''महल एक औरत, मार्कण्डेय कृत – ''एक दिन की डायरी'', निर्मल वर्मा कृत – ''परिन्दे, एक पुष्प एक नारी'', शिवप्रसाद कृत – ''धरातल'', आदि उल्लेखनीय हैं।

आज विद्रोह का यह बिन्दु प्रत्येक मनुष्य के भीतर है विगत वर्षों की अधिकांश कहानियों में विद्रोह का यह बिन्दु पूर्णतः उभर कर आया है। ''आज की सामाजिक एवं मानवीय संवेदनाएँ और परिस्थितियाँ अपनी आस्थाओं मूल्यों तथा विश्वासों के सहारे जीने वाले लोगों को उखाड़ फेंकने की चेष्टा करती है।''

(9) आधुनिक कहानीकार प्राचीन लेखकों की तरह रस उत्पत्ति के लिए ही कहानियों की सृष्टि नहीं करता, न ही मध्ययुगीन कहानीकारों की तरह अस्वाभाविक कौतूहलता की अस्वाभाविक घटनाओं को लेकर वर्णन करता है। वर्तमान कहानीकार आज का संघर्षशील व्यस्त और दुखी मानव है जिसके सामने समस्याओं, चिन्ताओं और समाधानों का ढेर है। आज कहानी मनोरंजन के साथ किसी न किसी सत्य का भी उद्घाटन करती है। वैज्ञानिक युग का मानव पूर्णरुपेण स्वतंत्र है, आधुनिक कहानी साहित्य इसी वैयक्तिकता को महत्त्व देता है। आज का प्रत्येक कहानीकार अपनी कहानियों में व्यक्तिगत मान्यताओं धारणाओं और चिन्ताओं को मूर्तरुप देने की चेष्टा करता है। वह वर्तमान को भूलकर केवल भविष्य की काल्पनिक शांति में ही मन नहीं रमाता। वह अपने युग और उसमें उभरती नयी मान्यताओं के प्रति सचेत है। कहानी व्यक्ति व समाज की होती है, उसके कार्य, कारण और सम्बन्ध की होती है। ''आज की कहानी के रुप एवं स्वरुप में तीव्र गति से परिवर्तन दिखाई देता है, परन्तु कहानी कला के मूल तत्त्वों में परिवर्तन नहीं है।''

(10) आज विशिष्ट पात्रों को न चुनकर सामान्य मानव को ही संघर्ष एवं युग की चेतना का प्रतीक माना जाता है। कहानियों का सम्बन्ध यदि जीवन से है तो पात्र भी यथार्थ जीवन के होने चाहिये। कहानी के चरम उद्देश्य तक में आज मानवता और मानव मूल्य है, उनकी व्याख्या है। उद्देश्य इतना सपाट सीमित या यांत्रिक नहीं होता कि कहानी के विषय में समाहित हो सके।

आजकल तो बिना किसी उद्देश्य और विचार के भी कहानीकार एक विशेष स्थिति को चित्रित कर देता है। इनमें कोई जीवन दर्शन नहीं तब भी आनन्द है। कथानक की सत्य रुपरेखा ही यहाँ उद्देश्य है जैसे मन्नू भंडारी की 'आकाश के आइने में', जगदीश चतुर्वेदी की 'मुर्दा औरतों की झील', रेणु की 'टेबल', ज्ञानरंजन की 'फैंस' के इधर उधर' आदि। आज की कहानी में फूटता शोर-शराबा भी बिना उद्देश्य के नहीं, वह यदि निराशा दिखाती है तो आशा और जीवन पाने की छटपटाहट भी उसमें व्याप्त है।

आज कहानियों में युग-बोध, जीवन की समस्याएं, ज्ञान, सत्य का परिचित रुप भी उपलब्ध है। वह तर्क, विचार, मनन के बाद सूक्ष्म से सूक्ष्म अंतर्दृष्टियों को हास्य व्यंग्य ओर नई सशक्त अभिव्यक्ति को भी स्पष्ट कर

रही है। एक स्वतंत्र नदी की तरह अविरल मधुर धारा प्रवाहित हो रही है, होती जाएगी। नयी कहानी के विकास के मुख्य तीन पक्ष हैं। इन तीनों पक्षों का विकास एक साथ ही हुआ। इन तीनों के पूर्ण विकास से ही आधुनिक कहानी का पूर्ण विकास सम्भव हुआ। ये तीनों पक्ष क्रमशः आत्मा, रुप और शैली है।

नन्द दुलारे बाजपेयी आधुनिक कहानी के विवाद पर अपना मत स्पष्ट करते हुए बताते हैं – ''नये युग की हिन्दी कहानियों के सम्बन्ध में दो बातें बड़े विश्वास के साथ और बहुत ही निर्विवाद भाव से कही जाती हैं। एक यह है कि ये कहानियाँ आधुनिक पश्चिमी कहानियों से प्रभावित हैं और उन्हीं के आधार पर लिखी जा रही हैं। दूसरी यह कि इन कहानियों का प्राचीन भारतीय कथा–साहित्य से कोई क्रमागत सम्बन्ध नहीं है, किन्तु मुझे ये दोनों ही बातें सुविचारित नहीं जान पड़ती और सहसा यह मान लेने का कोई कारण नहीं दिखता।''

(11) नई हिन्दी कहानियों की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है अथवा प्राचीन कथा–साहित्य से उनका कोई तात्विक साम्य नहीं है।

आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मेरा यह विचार देशप्रेम की किसी संकीर्ण भावना से प्रेरित होकर नहीं बनाया गया, न इसके मूल में प्राचीन–प्रियता की कोई धारणा ही है। साहित्यिक इतिहास के समस्त विद्यार्थी यह जानते हैं कि प्राचीन भारतीय कहानियाँ अपने समय के सभ्य संसार में कितना प्रभाव रखती थीं, उनका कितना ऋण संसार के कथा साहित्य पर है। यदि आज हिन्दी कहानियाँ पश्चिम से प्रेरणा ले रही हैं तो यह पूर्ववर्ती ऋण का शोध ही माना जाएगा।

उक्त स्थितियों में हम बिना किसी हिचक के वास्तविक स्थिति का उल्लेख कर सकते हैं। इन नई कहानियों का प्राचीन कहानियों से असम्बद्ध होना भी सिद्ध नहीं होता। यद्यपि विषय, शैली और उद्देश्य आदि में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है।

संक्षेप में मैं कह सकता हूँ कि आधुनिक कहानी की यही रूपरेखा है जो क्रमशः विकसित होकर पश्चिमी साहित्य में प्रतिष्ठित हुई है। हमें यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि छोटी–छोटी कहानियाँ लिखने की यह कला हमने यूरोप से ली है। कम से कम उसका आज का विकसित रूप तो पश्चिम का ही है। हमारे यहाँ प्राचीन संस्कृत–साहित्य में भी

कहानी थी, पर अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओं की भांति साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गयी। साहित्य के लिए प्राचीनकाल ने जो मर्यादायें बाँध दी थीं, उनका उल्लघंन करना वर्जित था। अतएव काव्य और नाटक की भाँति कथा में भी हम आगे न बढ़ सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है, जब तक उसमें कुछ नवीनता न लाई जाये। एक ही तरह का काव्य, एक ही भांति के नाटक पढ़ते-पढ़ते आदमी थक जाता है और वह नयी चीज चाहता है, चाहे वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ या तो यह इच्छा हुई नहीं, या हमने उसे इतना कुचला की जड़भूत हो गई। पश्चिम प्रगति करता रहा। उसे नवीनता की भूख थी और मर्यादाओं की बेड़ियों से चिढ़। जीवन के प्रत्येक भाग में इसकी इस अस्थिरता की, असंतोष की, बेड़ियों से मुक्त हो जाने की छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने क्रान्ति मचा दी। कथा-साहित्य में विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो, पर शैली तो बिल्कुल ही बदल गयी। "अलिफ लैला" उस समय का आदर्श था। उसमें रोमांस था, पर उसमें जीवन की समस्यायें न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य रुप में इतना स्पष्ट न था।"

(12) ऊपर का यह लम्बा उद्धरण प्रेमचंद के एक प्रख्यात लेख से है। हिन्दी साहित्य के महारथियों में वे ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस सत्य को जाना और हिन्दी की आज की आवश्यकताओं के अनुसार कहानियाँ दीं। वर्तमान युग की जरूरतों को समझते हुए साहित्य के इस नये पाठक के मन की ही चीज उन्होंने उसे देने का प्रयास किया।

आज का कहानीकार कल्पना मात्र पर अपनी कहानी की भित्ति खड़ी न करके किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर उसकी नींव रखकर और कला के दूसरे उपकरणों की सहायता से उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करके, सजीवता प्रदान करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नये कहानी लेखकों की एक सशक्त पीढ़ी अपनी रंगारंग अनुभूतियों को लेकर हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आगे आयी, लेकिन नयी कविता की तरह 'नई कहानी' भी कोई पृथक चीज है, ऐसा भ्रम शायद कुछ इसी प्रकार के लोगों ने ही फैलाया है, जिनका न तो अपना कोई स्थिर मत है, न स्पष्ट दृष्टि। कहानी पुराने ढांचे में किसी मनोरंजक कथानक को लेकर भी लिखी जा रही है।

"आधुनिक कहानी की विकास प्रक्रिया के अध्ययन से स्पष्ट है कि आधुनिक कहानी मनुष्य की समस्याओं और उसकी चेतना के विभिन्न स्तरों की कहानी है।"

(13) आधुनिक कहानियाँ कथा साहित्य में एक नये मोड़ के आने की सूचना तो देती ही है, किन्तु नये रचनात्मक परिवेश की ओर संकेत भी करती है। जो अब जीवन में आ रहा है।

नये जीवन मूल्य

अब समीक्षा के क्षेत्र में यह बात कम-बेश रुप में मान्य हो चुकी है कि जीवन-मूल्यों से कटकर तैयार हुए कलागत मूल्य न केवल अनावश्यक है बल्कि अविश्सनीय भी हैं। जीवन-मूल्यों द्वारा नियोजित मर्यादाओं के प्रति रचनाकार की स्वीकृति-अस्वीकृति अथवा तटस्थता उसकी रचना के मूल्यांकन का निष्कर्ष बनती है।

"मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में यदि हम साहित्य को नहीं समझते तो अक्सर हम ऐसी प्रतिभान योजना को प्रश्रय देने लगते हैं कि समस्त साहित्यिक अभियान गलत दिशाओं में मुड़ जाता है।"

(14) "पहले जो कथाकार आदर्शों में विश्वास करता था, वही पाँचवे दशक से ही मूल्यों में विश्वास करने लगा।"

(15) कालान्तर में इस विश्वास की परिणति नये मूल्यों की तलाश और विघटनशील मूल्यों के अस्वीकार में होती गई।

जिस समय देश के भाग्य विधाता संविधान के निर्माण में जुटे हुये थे, उस समय भारतीय जन-मानस गम्भीर चुनौतियों के दौर से गुजर रहा था। देश का भयावह विभाजन, बढ़ता हुआ औद्योगीकरण, पाश्चात्य विचारकों - डार्विन, मार्क्स, फ्रायड और सार्त्र आदि के आदर्शवाद विरोधी विचार-सूत्रों का दबाव आदि औसतन भारतीय चेतना को झकझोरने के लिये पर्याप्त थे। फलस्वरूप मानवीय सम्बन्धों का सतत् एवं स्वाभाविक रुप विकृत हो चला, रिश्तों में दरारें पड़ गयीं और पुरातन "जीवन-मूल्य" आधुनिकता से टकराकर या तो नष्ट हो गए या "नया चोला" धारण करने के लिये बाध्य हो गए।"

जिस आदर्शपरक आस्था और अभिजात्य गौरव के प्रति मोह स्वाधीनता - संघर्ष की प्रेरक शक्ति बने थे, कालांतर में वे सब "कुन्ठा" और

''घुटन'' में बदल गये। ''बीमार संवेदनाओं और आत्मकारी विश्वासों से जैसे समूचा वातावरण साहित्यिक हो गया।''

(16) तीव्र गति से फैलता हुआ औद्योगीकरण, बढ़ती हुयी जनसंख्या का दबाव तथा जीवन के हर क्षेत्र में प्रवेश करती हुयी राजनीति, ये सब उन आदर्शों और विश्वासों की टूटने के लिए समान रूप से उत्तरदायी हैं। जिनकी स्वतंत्रता संघर्ष में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। तब से आज तक बहुत बड़ा उलटफेर हो चुका है। हिन्दी कहानीकारों ने इस बदलते हुए माहौल पर अनेक कहानियाँ लिखी हैं जिनमें समकालीन मूल्य-बोध के सही रुप को देखा जा सकता है।

''नयी कहानी'' के संबंधों के परिवर्तित रुप, प्रेम और घृणा की सापेक्षता, अर्थहीन जीवन की समझ में भी रोमांचित सा स्पर्श, और अजनबी होते अपने ही संसार को सही अभिव्यक्ति दी है। अजनबी होते अपने ही संसार को चेतना की मार्मिक अभिव्यक्ति मन्नू भंडारी की कहानी की मूल-चेतना है।''

स्वतंत्रता के उपरान्त लिखी गयी कहानियाँ दरअसल परम्परागत मूल्यों के प्रति विक्षोभ प्रदर्शित करती हुई नवीन जीवन मूल्यों को उभारती है। अधिकांश कहानियों में जीवन-मूल्य भरे हुए हैं जो पूर्णतया टूटे नहीं हैं। नवीन मूल्यों की स्थापना की ओर भी कहानीकारों ने संकेत ही किया है केवल ''तलाश'' (कमलेश्वर)'', (दाम्पत्य)'' (राजकमल चौधरी) और ''निश्चय'' (कुल भूषण) आदि कुछ कहानियों में नवीन मूल्यों की स्थापना का प्रयास मिलता है।'' इस पीढ़ी के कहानीकारों में ''मानवीय मूल्यों के संरक्षण, जीवनी शक्ति के परिप्रेषण एवं सामाजिक नव निर्माण की उत्कंट प्यास है। इतना ही नहीं, बल्कि आज की कहानी नई भाव भूमियों का सृजन कर रही है।''

(17) समय-समय पर टूटते-बनते मूल्यों के अनुसार रचनाकार की दृष्टि में भी परिवर्तन होना अनिवार्य है। लेकिन जैसा कि रामकुमार ''भ्रमर'' ने लिखा है ''किसी भी रचनाकार की कृति उस चिंतन सत्य से अडिग नहीं होनी चाहिये, जो निरन्तर प्रगति का एकमात्र आधार है - मनुष्य के सनातन संघर्ष के प्रति आस्थावान होकर भविष्य के प्रति पूर्ण आशावादी होना।''

(18) ''कतिपय आधुनिकतावादी रामकुमार ''भ्रमर'' के कथन को परम्परावादी ठहराते हुये उसकी सार्थकता को संदेहास्पद सिद्ध करने की कोशिश कर

सकते हैं। ऐसे लोगों को जानना चाहिए कि भारतीय परम्परा न केवल कुछ सामाजिक आदर्शों और मूल्यों के प्रति दुहराया गया विश्वास है अपितु उन मूल्यों की अस्वीकृति भी है जो अनुपयोगी सिद्ध हो जाते हैं।

(19) अतः परम्परा से कटे हुए मानवीय मूल्य न केवल अयथार्थ होते हैं बल्कि नाकाफी भी। हमें आश्वत होना चाहिए कि सातवें - आठवें दशक के कहानीकार समकालीन जीवन-मूल्यों की यथार्थ एवं ईमानदार अभिव्यक्ति के नियामक सिद्ध हुए हैं।

इस प्रकार नए तथ्य, नए प्रयोग और नव-जीवन मूल्यों द्वारा नई कहानी ने कथा साहित्य को नई अर्थवत्ता तथा कला-संचेतना प्रदान की है जो नितांत नई उपलब्धि है। उक्त रचना धर्म को देखते हुए जैनेन्द्र जी का यह अपेक्षा कि नयी कहानी एक संघीय संज्ञा है, सटीक बैठता है।

7

आधुनिककालीन हिंदी साहित्य का इतिहासध्दलित विमर्श

दलित विमर्श जाति आधारित अस्मिता मूलक विमर्श है। इसके केंद्र में दलित जाति के अंतर्गत शामिल मनुष्यों के अनुभवों, कष्टों और संघर्षों को स्वर देने की संगठित कोशिश की गई है। यह एक भारतीय विमर्श है क्योंकि जाति भारतीय समाज की बुनियादी संरचनाओं में से एक है। इस विमर्श ने भारत की अधिकांश भाषाओं में दलित साहित्य को जन्म दिया है। हिंदी में दलित साहित्य के विकास की दृष्टि से बीसबीं सदी के अंतिम दो दशक बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

परिवेश

भारतीय समाज आदिकाल से ही वर्ण व्यवस्था द्वारा नियंत्रित रहा है जो वर्ण व्यवस्था प्रारंभ में कर्म पर आधारित थी कालान्तर में जाति में परिवर्तित हो गई। वर्ण ने जाति का रूप कैसे धारण कर लिया ? यही विचारणीय प्रश्न है। वर्ण व्यवस्था में गुण व कर्म के आधार पर वर्ण परिवर्तन का प्रावधान था किन्तु जाति के बंधन ने उसे एक ही वर्ण या वर्ग में रहने पर मजबूर कर दिया। अब जन्म से ही व्यक्ति जाति से पहचाना जाने लगा। उसके व्यवसाय को भी जाति से जोड़ दिया गया। अब जाति व्यक्ति से हमेशा के लिए चिपक गई और उसी जाति के आधार पर उसे सवर्ण या शूद्र , उच्च या निम्न माना जाने लगा। शूद्रों

को अस्पृश्य और अछूत माना जाने लगा और इतना ही नहीं उन्हें वेदों के अध्ययन , पठन - पाठन , यज्ञ आदि करने से वंचित कर दिया गया।

उच्च वर्ग ने अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए सबसे बड़ी चालाकी यह की , कि ज्ञान व शिक्षा के अधिकार को उनसे छीन लिया और उन्हें अज्ञान के अंधकार में झोंक दिया। जिससे वे आज तक जूझ रहे हैं और उभर नहीं पा रहे हैं। भारतीय समाज में दलित वर्ग के लिए अनेक शब्द प्रयोग में लाये जाते रहे है जैसे - शूद्र , अछूत , बहिष्कृत , अंत्यज , पददलित , दास , दस्यु , अस्पृश्य , हरिजन , चांडाल आदि। दलित शब्द का शब्दिक अर्थ है - मसला हुआ , रोंदा या कुचला हुआ , नष्ट किया हुआ , दरिद्र और पीड़ित , दलित वर्ग का व्यक्ति।

विभिन्न विचारकों ने दलित शब्द को अपने - अपने ढंग से परिभाषित किया है। डॉ . एनीबीसेन्ट ने दरिद्र और पीडितों के लिए ' डिप्रैस्ड ' शब्द का प्रयोग किया है। दलित पैंथर्स के घोषणा पत्र में अनुसूचित जाति , बौद्ध , कामगार , भूमिहीन , मजदूर , गरीब - किसान , खानाबदोश जाति , आदिवासी और नारी समाज को दलित कहा गया है। मानव समाज में हर वह व्यक्ति या वर्ग दलित है जो कि किसी भी तरह के शोषण व अत्याचार का शिकार है। इसके अतिरिक्त माना गया कि- सामाजिक , सांस्कृतिक , राजनैतिक , धार्मिक या आर्थिक या फिर अन्य मानवीय अधिकारो से वंचित, वह वर्ग जिसे न्याय नही मिल सका, दलित है।

दलित साहित्य की अवधारणा

ओम प्रकाश वाल्मीकि के अनुसार दलितों द्वारा लिखा जाने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है। उनकी मान्यतानुसार दलित ही दलित की पीड़ा को बेहतर ढंग से समझ सकता है और वही उस अनुभव की प्रामाणिक अभिव्यक्ति कर सकता है। इस आशय की पुष्टि के तौर पर रचित अपनी आत्मकथा जूठन में उन्होंने वंचित वर्ग की समस्याओं पर ध्यान आकृष्ट किया है।

दलित शब्द से अभिप्राय

दलित विमर्श आज के युग का एक ज्वलंत मुद्दा है। भारतीय साहित्य में इसकी मुखर अभिव्यक्ति हो रही है। दलित साहित्य को लेकर कई लेखक संगठन बन चुके हैं और आज यह एक आंदोलन का रूप लेता जा रहा है।

स्वाभाविक रूप से साहित्य , समाज और राजनीति पर इसका व्यापक असर पड़ रहा है। दलित शब्द का अर्थ है , जिसका दलन और दमन हुआ है। दलित लेखक कंवल भारती लिखते हैं , दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गंदे काम करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया है और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की , वही और वही दलित है , और इसके अंतर्गत वही जातियां आती है , जिन्हें अनुसूचित जातियां कहा जाता है। इसी तरह दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को वाणी दी है।

दलित आंदोलन और वैचारिक आधार

दलित आन्दोलन दलित साहित्य का वैचारिक आधार है। डॉ . अंबेडकर का जीवन–संघर्ष ज्योतिबा फुले तथा महात्मा बुद्ध का दर्शन उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि हैं। सभी दलित रचनाकार इस बिन्दु पर एकमत हैं कि ज्योतिबा फुले ने स्वयं क्रियाशील रहकर सामंती मूल्यों और सामाजिक गुलामी के विरोध का स्वर तेज किया था। ब्राह्मणवादी सोच और वर्चस्व के विरोध में उन्होंने आदोलन खड़ा किया था। यही कारण है कि जहाँ दलित रचनाकारों ने ज्योतिबा फुले को अपना विशिष्ट विचारक माना वही डॉ . अंबेडकर को अपना शक्तिपुंज स्वीकार किया।

डॉ . अंबेडकर ने अनेक स्थलों पर जोर देकर कहा है कि दलितों का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है। दलित चिंतन में राष्ट्र पूरे भारतीय परिवार या कौम के रूप में है जबकि ब्राह्मणों के चिंतन में राष्ट्र इस रूप में मौजूद नहीं है। उनके यहाँ एक ऐसे राष्ट्र की परिकल्पना है, जिसमें सिर्फ द्विज हैं। यहाँ न दलित हैं, न पिछड़ी जातियां है और न अल्पसंख्यक वर्ग है। इसलिए हिन्दू राष्ट्र और हिंदू राष्ट्रवाद दोनों खंडित चेतना के रूप में हैं। दूसरे शब्दों में वर्ण व्यवस्था ही हिंदू राष्ट्र का मूलाधार है। इसीलिए कंवल भारती के शब्दों में दलित मुक्ति का प्रश्न राष्ट्रीय मुक्ति का प्रश्न है। करोड़ों लोगों के लिए अलगाववाद का जो समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र ब्राह्मणों ने निर्मित किया , उसने राष्ट्रीयता को खंडित किया था और उसी के कारण भारत अपनी स्वाधीनता खो बैठा था। (इसीलिए दलित विमर्श के केंद्र में वे सारे सवाल हैं , जिनका संबंध भेदभाव से है , चाहे ये भेदभाव जाति के आधार पर हो , रंग के आधार पर हो , नस्ल के आधार पर हों , लिंग के आधार पर हों या फिर धर्म के आधार पर ही क्यों न हो।

दलित चिंतकों ने इतिहास की पुनर्व्याख्या करने की कोशिश की है। इनके अनुसार गलत इतिहास – बोध के कारण लोगों ने दलितों और स्त्रियों को इतिहास – हीन मान लिया है , जबकि भारत के इतिहास में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। सिर्फ जरूरत दलितों और स्त्रियों द्वारा अपने इतिहास को खोजने की है। डॉ . अंबेडकर पहले भारतीय इतिहासकार हैं जिन्होंने इतिहास में दलितों की उपस्थिति को रेखांकित किया है। उन्होंने इतिहास लेखन में दो तथ्यों को स्वीकार किए जाने की बात कही है। पहली बात यह कि एक समान भारतीय संस्कृति जैसी कोई चीज कभी नहीं रही और भारत तीन प्रकार का रहा – ब्राह्मण भारत , बौद्ध भारत और हिन्दु भारत। इनकी अपनी – अपनी संस्कृतियां रही। दूसरी बात यह स्वीकार की जानी चाहिए कि मुसलमानों के आक्रमणों के पहले भारत का इतिहास , ब्राह्मणों और बौद्ध धर्म के अनुयायियों के बीच परस्पर संघर्ष का इतिहास रहा है। जो कोई इन दो तथ्यों को स्वीकार नहीं करता , वह भारत का सच्चा इतिहास जो इस युग के अर्थ और उद्देश्य को स्पष्ट कर सके , कभी नहीं लिख सकता।

दलित आत्मकथाएं

दलित विमर्श सबसे प्रखर रूप में दलित आत्मकथाओं के रूप में सामने आया। दलित साहित्यकारों ने अपनी ही कहानी और अपने अनुभव के माध्यम से दलित उत्पीड़न और दलित संघर्ष को रेखांकित किया। ओमप्रकाश बाल्मिकी की जूठन पहली दलित आत्मकथा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी दलितों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए जो एक लंबा संघर्ष करना पड़ा, 'जूठन' इसे गंभीरता से उठाती है। इसमें चित्रित दलितों की वेदना और उनका संघर्ष पाठक की संवेदना से जुड़कर मानवीय संवेदना को जगाने की कोशिश करते हैं। तुलसी राम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' एवं 'मणिकर्णिका' पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण अंचल में शिक्षा के लिए जूझते एक दलित की मार्मिक अभिव्यक्ति है।

दलित कहानियाँ

दलित कहानियों में सामाजिक परिवेशगत पीड़ाएं, शोषण के विविध आयाम खुल कर और तर्क संगत रूप से अभिव्यक्त हुए हैं.

ग्रामीण जीवन में अशिक्षित दलित का जो शोषण होता रहा है, वह किसी भी देश और समाज के लिए गहरी शर्मिंदगी का सबब होना चाहिए था।

'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' कहानी में इसी तरह के शोषण को जब पाठक पढ़ता है, तो वह समाज में व्याप्त शोषण की संस्कृति के प्रति गहरी निराशा से भर उठता है।

ब्याज पर दिए जाने वाले हिसाब में किस तरह एक सम्पन्न व्यक्ति, एक गरीब दलित को ठगता है और एक झूठ को महिमा–मण्डित करता है, वह पाठक की संवेदना को झकजोर कर रख देता है।

दलित कविताएं

दलित साहित्यकारों में से अनेकों ने दलित पीड़ा को कविता की शैली में प्रस्तुत किया। दलित साहित्य की पहली कविता हीरा डोम को एक अछूत की शिकायत मानी जाती है। सैकड़ों साल एक ही स्थान पर रहने के बावजूद दलित अपने स्थान के निवासी नहीं माने जाते हैं क्योंकि उनके पास संपत्ति के कागजात नहीं हैं। ओमप्रकाश बाल्मिकी की कविता 'ठाकुर का कुआं ' इसी सच्चाई को अभिव्यक्त करते हुए दलितों की अंत:पीड़ा को उजागर करती है–

चूल्हा मिट्टी का
मिट्टी तालाब की
तालाब ठाकुर का...

दलित चिंतक

दलित चिंतको के अनुसार वास्तव में जिसे हम नवजागरण कह सकते है उसकी लहर बंगाल में नही अपितु महाराष्ट्र से चली। वह लहार थी दलित मुक्ति आंदोलन की जिसने न सिर्फ भारत का ही बल्कि पूरे विश्व का ध्यान आकृष्ट किया था। इस लहर को पैदा करने वाले थे महात्मा ज्योतिबा फूले।

महात्मा ज्योतिराव फुले

महात्मा ज्योतिराव फुले सामाजिक क्रांति के अग्रदूत महात्मा ज्योतिराव फुले का जन्म सन 1827 में पुणे (महाराष्ट्र) में हुआ। उनके पिता का नाम गोविन्दराव और माता का नाम चिमणाबाई था। वे जाति से माली थे व सब्जी बेचकर गुजर – बसर करते थे ज्योति राव जब एक वर्ष के थे तभी उनकी माता का निधन हो गया। तब उनकी मौसेरी बहन श्रीमती सगुणाबाई ने उनका लालन पालन किया। घर की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण उन्हें पढ़ाई के

लिए भी संघर्ष करना पड़ा। शिक्षा ने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी। शिक्षा से उन्हें मनुष्य के कर्तव्यो तथा मानव अधिकारो का ज्ञान हुआ।

विद्या विना गई मति ,
मति बन गई नीति।
नीति बन गई गति , गति बिन गया वित्त,
वित्त बिन चरमराये शूद्र, एक अविधा ने किए
इतने अनर्थ।

इन्होंने शिक्षा के महत्त्व को जन –जन तक पहुँचाने के लिए लगभग 18 पाठशालाएं खोली। ये पाठशालाएं मुख्य रूप से शुद्रों और महिलाओ के लिए था। महात्मा फुले ने 1873 में सत्य शोधक समाज की स्थापना की थी और इसी वर्ष उनकी क्रांतिकारी पुस्तक गुलामगिरी प्रकाशित हुई थी। इस समय तक रानाडे का प्रार्थना समाज अस्तित्व में आ चुका था।

इसके दो साल बाद 1875 में दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की थी। दलित आंदोलन जिन महापुरुषों से शक्ति ग्रहण करता है उनमें ज्योतिबा फुले के अलावा केरल के नारायण गुरु (1854) , तमिलनाडु के पीरियार रामास्वामी नायकर (1879 – 1973) , उत्तर भारत के स्वामी अछूतानंद (1879 – 1933) , बंगाल के चांद गुरु (1850 – 1930) , मध्य प्रदेश के गुरु घासीदास (1756) आदि प्रमुख हैं। ज्योतिबा फुले के नवजागरण के उपरांत महाराष्ट्र में जो दलित चेतना उभरी उसका राजनैतिक प्रभाव हमें 1923 में देखने को मिलता है जब बंबई की विधान परिषद् ने यह प्रस्ताव पारित किया कि दलित वर्ग के लोगों को भी सभी सार्वजनिक सुविधाओं और संस्थाओं के उपयोग का समान अधिकार होगा। महाड़ में अछूतों का पानी के लिए सत्याग्रह इसी अधिकार को प्राप्त करने के लिए था। इसने तत्कालीन राष्ट्रीय परिदृश्य में राजनीति के तीसरे ध्रुव दलित राजनीति को जन्म दिया और दलितों को सत्ता में भागीदारी दिलाई। 1927 में ब्रिटिश सरकार ने भारत की संवैधानिक समस्या को सुलझाने के लिए साइमन कमीशन नियुक्त किया। कांग्रेस , मुस्लिम लीग , हिंदु महासभा आदि सबने इस कमीशन का विरोध किया और जहाँ भी कमीशन गया साइमन गो बैक के नारे लगाए गए।

डॉ.अंबेडकर के नेतृत्व में दलितों ने कमीशन का समर्थन किया और मांग की कि हिंदुओं से अलग उन्हें भी एक विशिष्ट अल्पसंख्यक वर्ग माना जाए और उनके लिए मुसलमानों की तरह का प्रतिनिधित्व दिया जाए। इतना ही नहीं ,

भारत के भावी संविधान की रूपरेखा तय करने के लिए जब लंदन में गोलमेज कांफ्रेंस की घोषणा हुई तो इसमें दलितों के प्रतिनिधि के रूप में डॉ . अंबेडकर और आर.श्रीनिवास को आमंत्रित किया गया था।

आज दलित विमर्श और लेखन की कई धाराएँ हैं। पहली धारा – गैर दलित लेखकों की है। दूसरी धारा दलितों को सर्वहारा मानने वाले मार्क्सवादी लेखकों की है। इन दोनों धाराओं को मुख्य दलित साहित्यधारा नहीं मानने वाले दलित लेखकों की मुख्यधारा है। इन दोनों धाराओं को अपर्याप्त मानने वाले लेखकों ने दलित जीवन की यातना सही है। महात्मा फूले की आत्मकथा , काव्य और नाटकों में यह विमर्श पहली बार रचनात्मक अनुभव बना। अंबेडकर युग से पहले हीरा डोम सबसे आदरणीय दलित लेखक माने जाते हैं। अपनी मार्मिक कविता अछूत की शिकायत से उन्होंने पहली बार हिंदी लेखन में दलित सोच को शामिल किया। यह रचना ' सरस्वती ' जैसी पत्रिका के मुख्य पृष्ठ पर छपी थी। हीरा डोम ने भोजपुरी में जो ' अछूत की शिकायत ' लिखी थी , उसमें यह दयनीय सच उजागर किया था कि दलित को 24 घण्टे मेहनत करनी पड़ती है , फिर भी महीने में दो रूपये नहीं मिलते। इसी दौर के दलित लेखकों में हरिहर नाम से रचना करने वाले स्वामी अछूतानंद भी महत्त्वपूर्ण दलित रचनाकार हैं। उन्होंने दलितों को आदि हिंदू माना और अपनी कविता तथा नाटकों के द्वारा यह स्थापित किया कि भारत के मूल या आदि निवासी अछूत हैं , शेष सभी बाहर से आए हैं। कई आलोचकों और साहित्यकारों ने उन्हें पहला लेखक माना है। वैचारिक दृष्टि से वे अधिक सतर्क और सजग लेखक हैं। स्त्री – विमर्श की तरह दलित विमर्श भी रचनात्मक लेखन के माध्यम से आगे बढ़ा है।

स्वामी अछूतानन्द

स्वामी अछूतानन्द ने लोक छंद में रचित 'आदिवंश का डंका' में गीत, गजल, भजन और रसिया के छन्दों का मिश्रण किया है। इसमें सुप्त दलित समाज को जगाने की बात करते हुए सबसे पहले वे कहते हैं कि दलित प्राचीनतम हिन्दू हैं जो कभी समाज के सरदार थे , उन्हें जबरन शूद्र बनाकर गुलामी की जंजीरों में जकड़ लिया। वे इन जंजीरों को तोड़ने की बात करते हैं। बुद्ध की मुक्त कंठ से प्रशंसा करने वाले इस कवि ने दलितों का आवाहन करते हुए कहा है कि कौम को अज्ञानता की नींद से जगाते चलो तथा सवर्णो को चेतावनी देते हुए वे उनके बाहरी पाखण्ड का पर्दाफाश करते हैं। तीसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य उनके यहाँ

यह है कि मनुस्मृति दलितों को नीचे गिरा रही है। जिससे समाज में भेदभाव फैल गया है। कवि कहता है , ' हम तो शुद्ध - बुद्ध मानव हैं , पर तुम परख न पाते हो। घुसे छूत के कीड़े सिर में , जिससे तुम चिल्लाते हो। ' उनकी कविता पीड़ा और गुस्से से मिलकर बनी है , जिसमें परिवर्तन की उम्मीद साफ - साफ देखी जा सकती है।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर

आधुनिक भारत में सामाजिक न्याय की स्थापना व दलित वर्गों के उत्थान के प्रति प्रतिबद्धता के प्रतीक के रूप में डॉ . भीमराव अम्बेडकर का नाम लिया जाता है। अम्बेडकर सामाजिक न्याय के उत्कट सेनानी थे। उन्होंने दलित वर्गों के उत्थान और उनके लिए जीवन की न्याय - सम्मत और सम्मानजनक दशाएँ सुनिश्चित करने के अभियान के प्रति अपना जीवन समर्पित कर दिया। उन्होंने वैचारिक स्तर पर ही सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की आवश्यकता का प्रतिपादन नहीं किया , अपितु भारतीय समाज में विद्यमान अन्याय के निराकरण के लिए संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग लिया। स्वयं अस्पृश्य होने के कारण अनेक अवसरों पर हिन्दुओं के हाथों सहने पड़े अपमानों और यातनाओं ने उनके मन में हिन्दू - धर्म और सवर्णों के प्रति कटुता और विद्वेष उत्पन्न कर दिया था। इस कारण उनके विचारों में एक सीमा तक कड़वाहट अवश्य आ गई। यह कड़वाहट हिन्दू धर्मशास्त्रों की उनके द्वारा की गई एकपक्षीय व अतिवादी व्याख्याओं में भी परिलक्षित होती है। किंतु इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि उन्होंने जातिप्रथा , वर्णव्यवस्था तथा हिंदू धर्म की अनेक अन्याय पूर्ण मान्यताओं के प्रति विद्रोह का जो साहस प्रदर्शित किया , वह आधुनिक युग में उनसे पूर्व कोई भारतीय विद्वान नहीं कर सका था। व्यक्ति की गरिमा , सामाजिक और आर्थिक न्याय तथा समता की स्थापना के प्रति भारत के संविधान में व्यक्त हुआ संकल्प, संविधान के निर्माण की प्रक्रिया में डॉ . अम्बेडकर के निर्णायक प्रभाव का परिणाम है।

अम्बेडकर समाज में से अन्याय दमन और उत्पीड़न के उन्मूलन को भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता की तुलना में अधिक महत्त्व प्रदान करते थे। इस कारण उनके आलोचक उनके राष्ट्रवाद में संदेह करते हैं। किंतु अम्बेडकर की देश - भक्ति में संदेह करना वस्तुतः उनके प्रति अन्याय है। यह सत्य है कि कांग्रेस और गांधी के अनेक कार्यक्रमों के प्रति उनकी सहमति नहीं थी। उन्होंने अपने इस

मनतव्य को कभी छुपाया नहीं कि राजनैतिक स्वतंत्रता भारत के लिए तब तक महत्त्वहीन है जब तक कि दलित वर्गों को समाज की मुख्य धारा में सम्मिलित कर उन्हें राजनैतिक आर्थिक व सामाजिक शक्ति में समकक्ष भागीदार नहीं बनाया जाता किंतु अंबेडकर ने न तो भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता के प्रश्न की उपेक्षा की , न ही उन्होंने ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा का भाव व्यक्त किया। दलितों के उत्थान के प्रति ब्रिटिश सरकार की उदासीन नीति की उन्होंने कठोर आलोचना की। अम्बेडकर मानव अधिकारों के महान समर्थक थे। उन्होंने व्यक्ति के अनुल्लंघनीय अधिकारों की सांविधानिक उद्घोषणाओं व अधिकारों के अतिक्रमण के विरूद्ध कानूनी उपचारों को सुनिश्चित करने तथा ऐसी उपयुक्त सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों के निर्माण को महत्त्वपूर्ण माना जिनमें कि व्यक्ति के अधिकार सुरक्षित रह सकें। वे वास्तविक अर्थ में संविधावादी थे तथा राज्य की शक्ति को मर्यादित करने के पक्ष में थे। भारत के संविधान में उदारवादी लोकतंत्र के प्रति आस्था , सामाजिक व आर्थिक न्याय तथा धर्म निरपेक्षता के आदर्शों के प्रति प्रतिबद्धता , संविधान के निर्माण पर अम्बेडकर के उदारवादी व्यक्तित्व के प्रभाव को परिलक्षित करते हैं।

प्रमुख हिंदी दलित साहित्यकार

ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, सूरजपाल चौहान, 'योराज सिंह 'बेचैन' दलित–चेतना के उल्लेखनीय लेखक हैं। हिंदी दलित–लेखन में महिला रचनाकारों की संख्या नगण्य है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि

ओमप्रकाश वाल्मीकि (30 जून 1950 - 17 नवम्बर 2013) वर्तमान दलित साहित्य के प्रतिनिधि रचनाकारों में से एक हैं। उनकी हिंदी दलित साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म 30 जून, 1950 को बरला गांव, मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश) जिला मृत्यु 17 नवम्बर 2013 (उम्र 63) देहरादून व्यवसाय - रचनाकार, राष्ट्रीयता–भारतीय नागरिकता–भारत कविता संग्रह– सदियों का संताप, बस्स! बहुत हो चुका, अब और नहीं, शब्द झूठ नहीं बोलते, चयनित कविताएँ (डॉ. रामचंद्र) कहानी संग्रह– सलाम, घुसपैठिए, अम्मा एंड अदर स्टोरीज, छतरी आत्मकथा– जूठन (अनेक भाषाओँ में अनुवाद)

आलोचना– दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र, मुख्यधारा और दलित साहित्य, सफाई देवता आदि।

नाटक– दो चेहरे, उसे वीर चक्र मिला था अनुवाद– सायरन का शहर (अरुण काले) कविता–संग्रह का मराठी से हिंदी में अनुवाद, मैं हिन्दू क्यों नहीं (कांचा एलैया) लो अंग्रेजी पुस्तक का हिंदी अनुवाद, लोकनाथ यशवंत की मराठी कविताओं का हिंदी अनुवाद अन्य– 60 से अधिक नाटकों में अभिनय, मंचन एवं निर्देशन, अनेक राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय सेमीनारों में भागीदारी।

बिहारी लाल हरित

परिचय बिहारी लाल हरित हिंदी दलित कविता के प्रसिद्ध हस्ताक्षर रहे हैं। हीरा डोम और अछूतानंद जैसे प्रारंभिक दलित रचनाकारों की श्रेणी में हरित का नाम लिया जाता है। सन 1940 से 80 के दशक तक दलित हिंदी कविता धारा के क्षेत्र में हरित एवं उनके शिष्यों का प्रभाव रहा है। दलित समाज के प्रसिद्ध नारे जय भीम की सर्जना का श्रेय बिहारीलाल हरित को है। उन्होंने ही 1946 में डॉक्टर भीमराव अंबेडकर के जन्म दिवस समारोह के अवसर पर पहली बार दिल्ली में डॉ अंबेडकर की उपस्थिति में एक गीत के माध्यम से जय भीम का उद्घोष किया था यथा 'नवयुवक कौम के जूट जावै सब मिलकर कौम परस्ती में जय भीम का नारा लगा करें भारत की बस्ती बस्ती में'।

डॉक्टर अंबेडकर को दलित समाज के घर घर तक पहुंचाने तथा जनमानस को अंबेडकर के प्रति श्रद्धा से भरने के लिए हरित जी ने 1983 में भीमायण महाकाव्य की रचना की। भीमायण की एक विशेषता यह भी है कि इसमें उन्हीं छंदों का प्रयोग किया गया है जिनका प्रयोग तुलसीदास ने रामचरितमानस में किया है। यह साहित्य के उन आचार्य आलोचकों के लिए एक सशक्त जवाब है जो दलित रचनाकारों में कौशल की संभावनाओं को नकारते हैं। वीरांगना झलकारी बाई हरित जी का दूसरा महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रंथ है जिसमें देश के स्वाधीनता आंदोलन के दौरान झांसी की रानी लक्ष्मी बाई की जान बचाने के लिए अंग्रेजी सेना से वीरता पूर्वक लड़कर अपने प्राणों का उत्सर्ग करने वाली दलित वीरांगना झलकारी बाई के शौर्य और बलिदान की गौरव गाथा का चित्रण कर इतिहास के उन प्रसंगों और घटनाओं की ओर समाज और राष्ट्र का ध्यान आकृष्ट करने का सार्थक प्रयास किया गया है जो दलितों के राष्ट्र प्रेम त्याग और शौर्य से परिपूर्ण है। प्रसिद्ध दलित राजनेता और देश के भूतपूर्व उप प्रधान मंत्री

बाबू जगजीवन राम के जीवन पर आधारित जग जीवन ज्योति नामक एक चंपू काव्य की रचना भी उन्होंने की। बिहारीलाल हरित अभिमान के कवि थे। सन 1940 में हापुर उत्तर प्रदेश निवासी चर्चित शायर जिनका उपनाम बूंम था उसने चमारी नामा नामक एक लघु पुस्तिका लिखी जिसमें दलित की स्त्रियों पर आपत्तिजनक टिप्पणी की गई थी। हरित जी का मानस दलितों के प्रति बूम की आपत्तिजनक टिप्पणियों से और आंदोलित हुआ और उन्होंने चमार नामा लिखकर बूंम का सटीक जवाब दिया। इसके अलावा भी बिहारीलाल हरित ने अन्य कई पुस्तकें लिखी जिनमें अछूतों का बेताज बादशाह प्रमुख है। हिंदी दलित साहित्य में कई महाकाव्य रचे गए जिनमें बिहारीलाल हरित कृत्य भीमायण, जग जीवन ज्योति कथा वीरांगना झलकारी बाई प्रसिद्ध है। इस प्रकार सन 40 से लेकर 80 के दशक तक दलित समाज में अंबेडकरी आंदोलन के प्रचार प्रसार में हरित जी की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक सहभगिता रही है इनकी काव्य संवेदना का निर्माण असमानता शोषण और अन्याय के प्रतिकार का उद्वेलन है जिसका संबंध समाज में व्याप्त कुरीतियों को मिटाने से है। हरित जी दलित चेतना के समर्थ रचनाकार हैं जिन की कविताओं में प्रतिरोध की भावना प्रबल दिखती है।

उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्न हैं–

(1) भीमायण महाकाव्य (2) वीरांगना झलकारी बाई महाकाव्य (3) जग जीवन ज्योति महाकाव्य (4) चमार नामा (5) अछूतों का बेताज बादशाह इत्यादि

मोहनदास नैमिशराय

मोहनदास नैमिशराय ख्यातनाम दलित साहित्यकार एवं बयान के संपादक हैं। झलकारी बाई के जीवन पर वीरांगना झलकारी बाई नामक एक पुस्तक सहित उनकी 35 से अधिक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें उपन्यास, कथा संग्रह, आत्म कथा तथा आलेख इत्यादि शामिल हैं। वे सामाजिक न्यास संदेश के संपादक भी हैं। उनका बचपन गरीबी में बीता। वे मेरठ में रहते थे। मिट्टी का कच्चा घर था। विशेष कपड़े भी उस समय पहनने के लिए नहीं थे। बिना चप्पल या जूते के भी आना-जाना पड़ता था। उनकी शिक्षा मेरठ में कुमार आश्रम में हुई। यह आश्रम लाला लाजपत राय ने दलितों की शिक्षा के लिए बनवाया था।

उनके पिता आरंभ में सामाजिक कार्यकर्ता थे। वे डिप्रेस्ड लीग के चेयरमेन रहे और जब उन्होंने हाईस्कूल किया तो वे पूरे जिले में हाईस्कूल करने वाले दूसरे व्यक्ति थे। पिताजी नाटकों में भूमिका भी करते थे।

रचनाएँ

असंगघोष, खामोश नहीं हूँ मैं, हम गवाही देंगे, मैं दूँगा माकूल जवाब, समय को इतिहास लिखने दो, हम ही हटाएंगे कोहरा, ईश्वर की मौत, अब मैं सॉस ले रहा हूँ बंजर धरती के बीज, तुम देखना काल (कविता संचयन)

पुरस्कार

मध्य प्रदेश दलित साहित्य अकादमी, उज्जैन द्वारा पुरस्कृत (2002) प्रथम सृजनगाथा सम्मान-2013, गुरू घासीदास सम्मान भगवानदास हिन्दी साहित्य सम्मान 2017, उर्वशी सम्मान 2017, स्व.केशव पाण्डेय स्मृति कविता सम्मान 2019, प्रथम मंतव्य सम्मान 2019।

विवादित मुद्दे

दलित विमर्श से संबंधित अनेक विवादास्पद मुद्दे हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं-

दलित किसे माना जाना चाहिए। उन्हें जो जन्म से अवर्ण हैं , जिन्हें हिन्दू समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था के अनुसार ' शूद्र ' माना जाता है या उन्हें जो ' अछूत ' समझे जाते हैं। ' शूद्र ' और ' अछूत ' ये दोनों श्रेणियाँ जन्म के आधार पर होती हैं अर्थात् इस श्रेणी में आने वाले लोगों के साथ आर्थिक और सामाजिक भेदभाव इसलिए किया जाता है क्योंकि इनका जन्म ऐसे समाजों में हुआ जिन्हें उत्पीड़ित और शोषित करना समाज के दूसरे वर्णो द्वारा अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझा जाता है। यदि किसी कारण से अपवाद रूप में भी अवर्ण जातियों में किसी की आर्थिक स्थिति बेहतर हो जाती है तो भी उनकी सामाजिक स्थिति में कोई बदलाव नहीं आता।

विवाद का दूसरा मुद्दा दलित साहित्य की अवधारनणा को लेकर है। दलित पात्रों का चित्रण करने वाला सभी साहित्य दलित विमर्श के अंतर्गत शामिल किया जाएगा या केवल वही साहित्य इसमें गिना जाएगा जो दलितों द्वारा लिखा गया है।

विवाद का तीसरा मुद्दा दलित साहित्य के स्वरूप से संबंधित है। दलित साहित्य दलितों द्वारा लिखे गए प्रत्येक साहित्य को माना जाएगा या कुछ खास किस्म के संघर्षमूलक साहित्य को ही दलित साहित्य माना जा सकता है?

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दलित का अभिप्राय उन लोगों से है, जिन्हें जन्म, जाति या वर्णगत भेदभाव के कारण हजारों सालों से सामाजिक न्याय और मानव अधिकारों से वंचित रहना पड़ा है। शुद्रों की भी हालत कोई खास अच्छी नहीं रही है , सवर्ण आज भी शुद्रों के साथ बैठकर खाने में ,या उसकी बिरादरी में शादी-ब्याह से कतराते हैं। यह विडंबना ही है , कि समस्त प्राणियों में एक ही तत्त्व के दर्शन करने वाला, वर्ण-व्यवस्था को गुण और कर्म के आधार पर निर्धारित करनेवाला समाज , इतना कट्टर कैसे हो गया कि निम्न वर्ण या जाति में जन्म लेने वालों को सब प्रकार के अवसरों से वंचित किया जाता रहा और इन सड़ी-गली सोच के लिए 'मनुस्मृति' को जिम्मेदार ठहरा दिया गया। हमारे देश का लम्बे अरसों तक गुलाम रहने का यह भी एक मुख्य कारण रहा है। हमारे स्वतंत्रता आन्दोलन के पुराधाओं ने भारत को इस कलंक पूर्ण प्रथा से मुक्त कराने का यथासाध्य प्रयास किया। भारत के संविधान अनुच्छेद 15 (2 बी) के अंतर्गत यह प्रावधान रखा गया कि जाति के आधार पर , भारत के किसी भी नागरिक के साथ भेद-भाव नहीं किया जायगा लेकिन यह सब संविधान के पन्नों में सीमित रह गया। आज भी सवर्ण के कुएं से दलितों का पानी लेना मना है। दलितों की बस्तियाँ, सवर्णो से बिल्कुल अलग होती है , जहाँ से सवर्ण गुजरने से आज भी बचने की कोशिश करता है।

इसके अलावा लम्बे समय तक, सामाजिक शोषण और दमन की शिकार रही, हरिजन और गिरिजन जातियों को अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के रूप में सूचीबद्ध किया गया , ताकि इनके लिए सामाजिक न्याय सुनिश्चित किया जा सके। उनके प्रयासों का परिणाम कुछ-कुछ तो अब दीखने लगे हैं , लेकिन पूर्णतया अभी दूर है। सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में चली मानवाधिकारों की हवा ने दलित चेतना को प्रवाहित करने में बड़ा योगदान किया है। यही कारण है कि अब दलित साहित्यकार परम्परागत काव्य-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र को अपर्याप्त मानते हुए साहित्य की नई कसौटी की खोज में जुट गये हैं। दूसरी ओर ये लोग अफ्रीका और अमेरिका की अश्वेत जातियों के साहित्य से भी प्रेरणा ले रहे हैं , जिससे वाले दलितों का काव्य-शास्त्र केवल मनोरंजन के लिए नहीं, बल्कि समाज को झकझोड़ने और जगाने के लिए भी हो। म्लेच्छ, अछूत, दास तथा न जाने और कितने गाली-वाचक शब्दों से पुकारे जाने दलितों द्वारा रचित "दलित चेतना साहित्य " में अपने अनुभव को उच्चवर्ण के साहित्यकारों के अनुमान की तुलना में अधिक मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान

करने में सक्षम हो रहा है , लेकिन इसे आत्मकथात्मक साहित्य ही कहा जा सकता है।

हिंदी में के 1980 , बाद दलितों द्वारा रचित अनेक आत्म-कथानक साहित्य आई , जिनके कुछ नाम इस प्रकार हैं मोहनदास, नैमिशराय, ओमप्रकाश, बाल्मीकि , सूरजपाल, चौहान आदि। 1999 में दलित पत्रिका का प्रकाशन हुआ, इसके बाद दलित उपन्यासों की रचना हुई। इतना ही नहीं , हिंदी साहित्य का दलित विमर्श की दृष्टि से पुनर्पाठ भी आरम्भ हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप, भक्ति-साहित्य को नई दृष्टि से व्याख्यापन किया गया। सरस्वती में प्रकाशित (1914 में) हीरा डोम की कविता, 'अछूत की शिकायत' को दलित हिन्दी साहित्य की प्रथम रचना के रूप में स्वीकृति मिली।

दलित साहित्य को आगे ले जाने में फुले और अम्बेडकर का बहुत बड़ा हाथ रहा। सर्वप्रथम यह मराठी साहित्य के रूप में आया। उसके बाद तेलगु , कन्नड़, मलयालम और तमिल में आया। बाकी भाषाओं में 20 वीं शदी के अंतिम दो दशकों में आया , लेकिन मलयालम दलित चिंतक कंचाइल्लया जब तक यह घोषणा करते हैं कि कुछ ही वर्षों बाद देखना, अंग्रेजी भारत की राष्ट्रभाषा बन जायगी, और हिन्दू-धर्म नष्ट हो जायगा, वेद, उपनिषद तथा गीता से प्रेरणा प्राप्त करने वाले साहित्य के स्थान पर अम्बेडकरवादी दलित साहित्य सर्वव्यापी हो जायगा , तब वे वास्तव में दलित-विमर्श को स्वार्थ और घृणा की राजनीति का शिकार बनाने की कोशिश करते हैं। ऐसे चिंतक दलित-साहित्य को आधुनिक विमर्श के बजाय हिदू-विमर्श के रूप में प्रस्तुत करते हैं। बावजूद यह सत्य है कि अम्बेडकर का साहित्य, दलित-मुक्ति की खोज, ज्ञान की मुक्ति के रूप में करते हैं। जब भगवान बुद्ध आये तब उन्होंने ब्राह्मणवादी व्यवस्था से ज्ञान को उच्च वर्णों के शिकंजे से मुक्त कराया था। आज भी दलित इसी कार्य को करने की कोशिश कर रहे हैं। इसके लिए संविधान में इन्हें संवैधानिक शक्ति भी प्राप्त है। यद्यपि मणिपुर में शेष भारत की तरह, यहाँ न तो वर्ण-व्यवस्था की विकृतियाँ पहले थीं, न ही आज है। कहते हैं, मणिपुरी समाज में 13 वीं,14 वीं शदी में मणिपुर में वैष्णव धर्म का जब प्रवेश हुआ, तब यहाँ सर्वप्रथम --

"जाति-पाति पूछे नहीं कोय"
"हरि को भजे सो हरि के होय"

मानने वाले रामानंदी सम्प्रदाय आये। लगता है, मणिपुरी सम्प्रदाय को ये रामानंदी भा गये , तभी यहाँ वैष्णव धर्म का प्रचार हो सका। इतना ही नहीं,

बंगाल के गौड़ीय सम्प्रदाय को भी यहाँ फलने-फूलने का मणिपुर सम्प्रदाय ने भरपूर माहौल दिया। उसके प्रचारकों ने यहाँ जाति-व्यवस्था चलाने का भी प्रयास किया। मगर मणिपुरी समाज अपने संस्कार में इतने प्रबल थे ,कि यहाँ जातिगत भेदभाव जड़ नहीं जमा सका। मणिपुर की तरह अरूणाचल प्रदेश, मिजोरम, मेघालय और नागालैंड में भी जाति-भेद न होने के कारण, वहाँ के साहित्य में दलित-विमर्श नहीं है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य में दलित विमर्श के व्यापक प्रचलन का मूल कारण जाति और वर्ण पर आधारित सामाजिक भेदभाव रहा है। जिस कारण बीसवीं शदी के अंत तक दलित वर्ग समाज में सर उठाकर खुद को दलित-वर्गीय कहने का भी हिम्मत नहीं उठा नहीं पाता था। लेकिन जब हिन्दू-धर्म के खोखले आदर्शों व संस्कृति को वे समझने लगे, तब इस व्यवस्था के विरुद्ध खड़े होने की हिम्मत करने लगे। आज दलित-साहित्य का उभार भारतीय समाज व्यवस्था के परिवर्तन का द्योतक ही नहीं, बल्कि एक प्रकार से सवर्ण समाज पर श्वेत-पत्र सा लगता है। यदि देखा जाय, तो दलित चेतना को इस जीवंत स्तर के तह तक पहुँचाने के लिए महात्मा ज्योति राव फुले सावित्री वाई फुले जैसे समर्पित दंपति का योगदान विस्मृत नहीं किया जा सकता। इन्होंने 1848 में पहली कन्या पाठशाला खोली। 1851 में अछूतों के लिए पहली पाठशाला खोली और 1864 में विधवा विवाह सम्पन्न कराया। सावित्री वाई फुले को दलित समाज की पहली भारतीय शिक्षिका बनने का गौरव प्राप्त है। कुल मिलाकर देखा जाय, तो दलित-समाज के सभी तबके के लोगों का स्वर , मुख्य धारा से अलग रहने की छ्टपटाहट अभिव्यक्ति करता है। हम उम्मीद कर सकते हैं, कि दलित चेतना का यह संघर्ष एक दिन उन्हें समाज की मुख्य धारा से जोड़ने के लिए बाध्य करेगी

समाज की ही तरह साहित्य भी गतिशील होता है। साहित्य समाज में हो रहे परिवर्तन का साक्षी होता है। हमारा देश जितना विविधधर्मी है उसी के अनुरूप दलित साहित्य में भी विविधता है। दलित साहित्य की विकास यात्रा को एक नयी ऊँचाई मिल रही है। इसके ऐतिहासिक विकासक्रम पर अगर हम ध्यान केंद्रित करें तो पता चलेगा कि इसकी निरंतरता में बहुत कुछ नया जुड़ा है। इसका दायरा कई मायनों में विस्तृत हुआ है। इसने एक तरफ जहाँ अपना भौगोलिक विस्तार कर अखिल भारतीय स्वरुप ग्रहण कर लिया है वहीं इसमें विधागत समृद्धि के साथ-साथ कलात्मक ऊँचाई भी आई है। विषय वस्तु के भी स्तर पर

इसमें उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। लेखकों का अनुपात विविध सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाला हुआ है। दलित साहित्य लेखन में दलित महिलाओं की भागीदारी ने न केवल दलित साहित्य के स्वरूप को प्रभावित किया है बल्कि पूरे भारतीय साहित्य के स्वर को उसने एक नयी दिशा दी है। मेरा ख्याल है कि दलित साहित्य में पहली पीढ़ी के लेखक बहुत हद तक गैर अकादमिक संस्थानों से जुड़े हुए थें। लेकिन अब जो नया परिवर्तन हुआ है उसमें अकादमिक जगत से जुड़े हुए दलित लेखकों का खासा हस्तक्षेप हुआ है। हमें इस पर भी विचार करना चाहिए कि अकादमिक जगत की पृष्ठभूमि वाले लेखकों के आने से दलित साहित्य के स्वरुप पर क्या असर पड़ा है? इसने कला के स्तर पर, विषयवस्तु के स्तर पर और दिशा के स्तर पर क्या असर डाला है?

हिंदी दलित साहित्य ने मोटे तौर पर लगभग छः दशकों की अपनी यात्रा पूरी की है। यह इक्कीसवीं सदी का द्वितीय दशक है जब हम अपने देश के बारे में यह कह सकते हैं कि इसने भी सामाजिक लोकतंत्र का एक स्तर पा लिया है। दलित साहित्य के उभार से सामाजिक लोकतंत्र के इस स्तर की भी पुष्टि होती है। लेकिन अभी भी हमारे समाज को मुकम्मल लोकतंत्र हासिल करना बाकी है। सांस्कृतिक और साहित्यिक स्तर पर जो विविधता इस सदी ने देखी है उसमें दलित साहित्य का बहुत योगदान है। इन महत्त्वपूर्ण बदलावों के बाद भी बहुधा ऐसा लगता है कि सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र में अभी भी बदलावों की प्रक्रिया अपना मुकम्मल स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाई है। अभी भी हमारा समाज मध्ययुगीन बर्बरता के दिनों को अपने सीने से चिपकाये हुए है। समाज में दमन की प्रक्रिया अपने विभिन्न रूपों में जारी है। परंपरागत सामंती ब्राह्मणवादी दमन पद्धति ने कई रूप धर लिए हैं। इसके कई रूपों की आवाजाही उत्पीड़ित समाजों में भी हुई है। हिंदी दलित साहित्य के आरंभिक अभिव्यक्तियों में इन रूपों की पहचान नहीं थी इसलिए उसके खिलाफ कोई विद्रोह भी नहीं था। विद्रोह था तो जातिव्यवस्था और इसको बनाये रखने वाली विचारपद्धति ब्राह्मणवाद के खिलाफ लेकिन जैसे-जैसे समाज में साक्षरता बढ़ी है दलित समुदाय के लोगों का दखल अकादमिक और इससे इतर महत्त्वपूर्ण ज्ञान की जगहों पर हुआ है वैसे-वैसे दमन के सूक्ष्म और जटिल रूपों की भी पहचान तेज हुई है। यहाँ तक कि दलित साहित्य ने अपने भीतर की कमियों और सीमाओं का रेखांकन भी करना शुरू किया है। यह एक अच्छा संकेत माना जा सकता है क्योंकि जो समाज, व्यक्ति या देश आलोचना के साथ-साथ आत्मालोचना को

नहीं स्वीकार करता उसके भीतर का बदलाव बहुत टिकाऊ और दीर्घजीवी नहीं हो सकता। इसके विकास की संभावना अवरुद्ध हो जाती है। लेकिन सुखद बात यह है कि बदलावधर्मी दलित साहित्य की ताजी अभिव्यक्तियों में आलोचना–आत्मालोचना का संतुलन बनता दिख रहा है। आलोचना की जगह आलोचनात्मक संवाद ने ले ली है। ज्ञानमीमांसा के इकहरेपन ने इसकी बहुयामिकता को स्वीकार करना शुरू कर दिया है।

दलित साहित्य की उपलब्धियों, उसकी सीमाओं और उसके योगदान पर चर्चा करना इस लेख का अभीष्ट है। ऐसा लगता है कि दलित कविता से ही बात शुरू करनी चाहिए। प्रायः दलित चिंतक संत साहित्य और नाथ, सिद्ध और संत कविता को दलित कविता की पृष्ठभूमि के रूप में चिन्हित करते रहे हैं, लेकिन ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस मान्यता को अपनी किताब 'दलित साहित्य–अनुभव संघर्ष एवं यथार्थ'(वाल्मीकि 2013) में अस्वीकार कर दिया इसका कारण उन्होंने यह बताया कि चूँकि संत कविता में व्यक्त भक्त और ईश्वर का संबंध वैसा ही है जैसे दास और मालिक का इसलिए यह कविता कोई सामंतवादी ढांचे को तोड़ती नहीं है, इसलिए यह दलित कविता की पृष्ठभूमि नहीं हो सकती ओमप्रकाश वाल्मीकि का यह तर्क विल्कुल ठीक है, लेकिन भक्ति या दास और मालिक के बीच संवाद फॉर्म में जो समाज व्यवस्था की आलोचना का मूल्य है उसको भी स्वीकार करना बदलाव की परंपरा की पहचान करना है। हीरा डोम की जिस कविता को कई बार दलित कविता नहीं भी कहा जाता है उसमें भी जो संवाद का फॉर्म है उसके आधार पर वाल्मीकि जी के पैमाने पर दलित कविता नहीं सिद्ध होती लेकिन ध्यान से पाठ करने पर यह कविता एक तरफ जहाँ ईश्वर से अपने भौतिक सांसारिक जीवन में दमन के खिलाफ ईश्वर से शिकायत करती है वहीँ वह ईश्वर के पूर्वाग्रही रूप को उजागर करते हुए उसकी सत्ता को भी चुनौती देती है। उनकी शिकायत है कि उनका दुःख भगवान भी नहीं देखता है। ध्यान रहे कि यह शिकायत एक वचन में नहीं है बल्कि बहुवचन में है– 'हमनी के दुःख भगवानओं न देखता जे हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि' (द्विवेदी 1914–2–512–513)। ईश्वर की सत्ता को चुनौती देने की बानगी देखिये– 'कहवा सुतल बाटे सुनत न बाटे अब डोम जानि हमनी के छुए से डेराले' (द्विवेदी 1914–2–512–513)। डोम को छूने मात्र से जो ईश्वर डर रहा हो इस बात का बोध रखने वाला कवि कब तक ऐसे ईश्वर की सत्ता को मान सकता था यह कल्पना की सीमा में सहज ही आ सकता है।

यह अनायास नहीं है कि संत कवियों का ईश्वर निर्गुण है, अजन्मा है। क्या निर्गुण संतों की इस चेतना का विस्तार हीरा डोम की इस कविता में नहीं दिखाई देता?

दलित कविता का फलक विस्तृत हुआ है। आरंभिक दलित कविताओं में पूंजीवाद से उपजे उत्पीड़न और ब्राह्मणवाद से इसके संश्रय पर कोई उल्लेखनीय आलोचना नहीं है। लेकिन 2015 में प्रकाशित दलित कविता की कई पुस्तकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये कविताएं सामाजिक सत्ता के साथ-साथ राजनीतिक सत्ता के विविधवर्णी उत्पीड़न दमन के रूपों की मुखर और स्पष्ट आलोचना प्रस्तुत करती हैं। हेमलता महिश्वर हमारे समय की महत्त्वपूर्ण कवयित्री हैं। उनका कविता संग्रह 2015 में प्रकाशित हुआ 'नील, नीले रंग के' (महिश्वर 2015)। यह सर्व विदित है कि दलित आंदोलन और साहित्य में नीले रंग का बहुत महत्त्व है। लेकिन इनकी कविताओं में नील दमन को प्रतिबिंबित करने वाला एक बदला हुआ प्रतीक बनकर आया है और यह जो नीले रंग का जो प्रतीक है उसे दलित चेतना ही नष्ट कर सकती है। कविता संग्रह की पहली ही कविता 'पहेली' दलित संवेदना के विस्तार की कविता बन जाती है। रोचक शैली वाली यह कविता सत्ता द्वारा उत्पीड़ितों को विभाजित कर उत्पीड़ितों के ही एक हिस्से को उसके खिलाफ खड़ा करके अपना हित साधने तथा मनुष्यता और पृथ्वी को खतरे में डालने की राजसी प्रवृत्ति की आलोचना करती है। सरकारी दमन की ब्रह्म उपस्थिति को चिन्हित करते हुए हेमलता जी कहती हैं-

बूझो! बूझो!
केंद्र से राज्य तक
बस्तर से असम तक
झारखण्ड, उड़ीसा, आन्ध्रा, महाराष्ट्र
कैसे असम नहीं
सम है सरकार
आडिट की नहीं दरकार (महिश्वर 2015-21)

परिवर्तन का हर विचार जो दलित मुक्ति में सहायक है उसके खिलाफ सरकार का जो दलित आदिवासी विरोधी अभियान है उसको बहुत गौर से आलोचना की विषयवस्तु बनाती हैं। वह आगे लिखती हैं-

सलवा जुडूम में आदिवासी
सलवा जुडूम का आदिवासी

एस पी ओ आदिवासी
नक्सली आदिवासी
उल्फा आदिवासी
माओ आदिवासी
मरता आदिवासी
मरने से किसको बचाता आदिवासी
आगे आदिवासी
पीछे आदिवासी
बोलो कितने बचे आदिवासी (महिश्वर 2015रू21–22)

प्रकृति और मनुष्यता को बचाने की चिंता से युक्त यह कविता प्रकृति के प्रति कोई नकारात्मक भाव नहीं पैदा करती बल्कि मनुष्यता के अस्तित्व की आधारभूत जरुरत के रूप में इसे देखती है। वह लिखती हैं–

जंगल में है आदिवासी
तो समझो
मौसम को सुरक्षित रखने की मदद हासिल है। (महिश्वर 2015–22)

उनकी नजर हिंसा का शस्त्र और शास्त्र रचने वालों तक जाती है और सत्ता द्वारा उनके पुरस्कृत किये जाने, महिमामंडित किये जाने की वजह पूछती है। वह लिखती हैं–

अल्फ्रेड नोबेल
तुम जनक विध्वंश के
निर्माण के
पुरस्कर्ता
कैसे हो गए?(महिश्वर 2015–25)

दलित कविता सीधे–सीधे अपनी बात कहती थी लेकिन उसमें शैली के स्तर पर आई विविधता ने उसको कलात्मक ऊँचाई दी है। व्यंग्य दलित साहित्य की संभवतः सबसे कम प्रयोग की जाने वाली शैली है, लेकिन हेमलता जी की कविताएं विकास और शक्ति के नाम पर विध्वंस रचने वाली व्यवस्था पर व्यंग्य करती हैं।

बुद्ध
कर रहा था
कर रहा है

अनवरत
युद्ध (महिश्वर 2015:28)

'बुद्ध-3' शीर्षक वाली यह कविता अहिंसा के दार्शनिक पाखंड के आवरण में दलितों, महिलाओं और उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के ऊपर अनवरत होने वाली हिंसा को उजागर कर सत्ता द्वारा अहिंसा के जाप को बनावटी सिद्ध करती है। स्वर्ग और नरक की मायावी मनुष्य विरोधी मान्यताओं को खारिज करती हैं इनकी कविताएं। वह 'स्वर्ग और स्त्री' शीर्षक कविता में लिखती हैं-

रखो स्वर्ग
अपना अपने पास
तुम्हे मुबारक
डालती हूँ मैं उस पर
गारत
कि मुझको तो
भाता है स्वतंत्र भारत। (महिश्वर 2015:33)

जाहिर है कि स्त्री की स्वतंत्रता की भावना वाली यह कविता देश की स्वतंत्रता में ही अपनी स्वतंत्रता की तलाश करती है। कवयित्री का यह विचार दलित साहित्य पर खंडित दृष्टि का आरोप लगाने वालों के लिए एक उत्तर हो सकता है। हेमलता जी की कविताएं सीधे पितृसत्ता की आलोचना नहीं करती हैं बल्कि स्त्रियों की स्थितियों को कलात्मक रूप में ढालकर व्यक्त कर देती हैं। कला संवेदना का विरोधी नहीं होती कई बार यथार्थ का वर्णन उतना प्रभावी नहीं होता जितना यथार्थ का कलामयी वर्णन आखिर कला का भी काम तो चेतना को उन्नत ही करना होता है।

'उपस्थित-अनुपस्थित' शीर्षक की कविताएं स्त्री के ऊपर पुरुष वर्चस्व और उसकी उपेक्षा से उपजे भाव को व्यक्त करती हैं। वह लिखती हैं-

चिपकी रह जाती है
झाड़न में जितनी धूल
उतना सा भी
नहीं रख पाई वे
बचाकर
अपना मन
मनोंमन कई टन

झाड़कर
घर की धूल (महिश्वर 2015:34)

दलित कविता सामाजिक जातिवादी और लैंगिक उत्पीड़न से उपजे आक्रोश और चिंतन से अपनी रचनात्मक उर्जा ग्रहण करती है। 'सोनी सोढ़ी के लिए' शीर्षक से लिखी गयी कविता बेहद मार्मिक और दिल दहला देने वाली सत्ता की दमनकारी स्थिति को दर्शाती है और उसको चुनौती देने वाली किरण के फूटने की आशा करती है। यह कविता कवि के संवेदनात्मक तनाव और सृजन की यात्रा को भी दर्शाती है। वह लिखती हैं-

तुम्हारे
स्खलित वीर्य बूंद को
चंद्रबिंदु की तरह
सहेज लिया था
और दी थी पनाह
अपनी कोख में
तो जना था शिशु
मेरी रचनात्मकता ने
अब तुमने
ठूंस दिए जो
टुकड़े पत्थर के
तो भी पैदा होगा
मानस मनुज
तुम्हारे रोपे
और
मेरे पोसे गए पत्थर
मत घबराना
कहेंगे सच तुम्हारा (महिश्वर 2015:39)

'रुखसाना का घर' शीर्षक कविता संग्रह की लेखिका अनिता भारती (भारती 2015) का यह दूसरा काव्य संग्रह है। संग्रह का शीर्षक और उसका आवरण ही दलित आंदोलन और साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ का सूचक है। ऐसे समय में जब दलित समुदाय को हिन्दू अस्मिता के एकीकरण के नाम पर मुस्लिमों के खिलाफ खड़ा करने की पूरी कोशिश हो रही है ऐसे में एक दलित

स्त्री की ओर से सांप्रदायिक दंगों की शासकीय साजिश को उजागर करती कविताएं लिखना देश को बचाने और दलित साहित्य की सीमित कर दी गयी परिभाषा को विस्तार देती हैं। समय-समय पर बाबा साहब को भी मुस्लिम विरोधी साबित करने की कोशिश की जाती रही है। विडम्बना तो यह है कि वे लोग जो बाबा साहब को देश विरोधी साबित करते रहे हैं वे ही अब उनको मुस्लिम विरोधी साबित कर दलितों को हिन्दू अस्मिता के नाम पर गोलबंद कर उनके दमन का प्रमाण पत्र हासिल करने में लगे हैं। लेकिन सुखद बात यह है कि दलित स्त्री कविता सत्ता के मुस्लिम विरोधी रुख को दलित दमन से जोड़कर देखती है। 'रुखसाना का घर संग्रह' की कविताएं मुजफ्फर नगर दंगे में प्रभावित मुस्लिम महिलाओं के भयानक दर्द को तथा सत्ता के षड्यंत्र को दिखाती हैं। वह लिखती हैं-

रुखसाना तुम्हारी आँखों के बहते पानी ने
कई आँखों के पानी मरने की
कलई खोल दी है। (भारती 2015:23)

दलित स्त्री कविता धर्म निरपेक्षता की जाँच देश में होने वाली सांप्रदायिक घटनाओं से करती है। एक स्थिति के बाद कविता दुःख और आक्रोश को व्यंग्य में ढाल देती है।

तुम्हारी बेटी के नन्हे हाथों से
उत्तर कापियों पर लिखे
एक छोटे से सवाल
धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की विशेषताओं पर
अपना अर्थ तलाश रहे हैं। (भारती 2015:21)

अनीता भारती का यह कविता संग्रह दलित, मुस्लिम और उपेक्षित स्त्री की एकता, उनके दुःख के पहचानने तथा एक सामूहिक आवाज बन जाने की भावना अपने में समाहित किये हुए है। तभी तो उनकी नजर उस हर स्त्री पर है जो दलित, दमित और वंचित है। 'ये औजार किसानों के लिए नहीं हैं' शीर्षक कविता गरीबों के ही परंपरागत हथियार एक दिन उनके सृजन में सहायक होने की जगह उनका ही नाश करने के काम आने लगेंगे, की विडम्बना पर केंद्रित है। एक स्त्री ने मानव समृद्धि के लिए जिस हथियार को जन्म दिया वही हथियार उसके खिलाफ तथा उसकी बहनों के खिलाफ इस्तेमाल हो रहा है। वह लिखती हैं-

ओ मुजफ्फर नगर की लोहारिन वधू!
जब तुम आग तपा रहीं थीं भट्टी में
उस भट्टी में गढ़ रहीं थीं औजार
हंसिया, दांव और बल्लम
तब क्या तुम जानती थी
कि ये सब एक दिन तुम्हारे वजूद को खत्म करने के काम आयेंगे? (भारती 2015:25)

अनीता भारती एक सचेत चिंतक भी हैं। दलित स्त्रीवाद की सैद्धांतिकी का बहुत कुछ उनके लेखन से ही आकार ग्रहण कर पाया है। लेकिन जब उनकी कविता 'कहाँ तक वाजिब है' पढ़ता हूँ तो आश्चर्य होता है कि इतनी सचेत और सधी हुई लेखिका स्त्री प्रश्न पर अपनी सीमा बनाती हुई क्यों दिखती हैं। दलित स्त्रीवाद में जाहिर है कि केवल दलित स्त्री का सवाल नहीं शामिल है वह एक व्यापक दायरे को समेटता है। तब ऐसा क्यों है–

जब इस देश में हजारों निर्भयायें हों
तब एक ही निर्भया के लिए
जंतर–मंतर को
देश की संसद को
देश के पुलिस थानों को
देश के सारे गली मोहल्लों को
युद्ध स्थल में बदल देना
कहाँ तक वाजिब है? (भारती 2015:41)

उनकी इस कविता से यह ध्वनित होता है कि अगर किसी दलित स्त्री के बलात्कार के खिलाफ आवाज नहीं उठाई गयी तो सवर्ण स्त्री के बलात्कार पर इतना हल्ला क्यों? यह ठहर कर सोचने का विषय है। यह तो सच है कि दलित स्त्री के बलात्कार के बाद कोई बड़ा आंदोलन नहीं होता है। 16 दिसंबर को होने वाली घटना के खिलाफ होने वाला आंदोलन किसी सवर्ण लड़की के लिए किया गया आंदोलन नहीं था बल्कि देश के मध्यवर्गीय युवाओं के भीतर इस तरह की घटनाओं से व्याप्त असुरक्षा के खिलाफ उपजा हुआ स्वाभाविक विक्षोभ था जिसमें किसी जाति, धर्म, संप्रदाय और नस्ल विशेष के लोग ही शामिल नहीं थे। दलित स्त्री कविता को देश के युवा के भीतर बलात्कार और महिला दमन के खिलाफ बनने वाली आंदोलनात्मक चेतना का स्वागत करते हुए

उनके भीतर व्याप्त जातिवादी भावना की आलोचना करनी चाहिए जिसकी ही वजह से दलित स्त्री पर होने वाले दमन और बलात्कार की उपेक्षा होती है। मोटे तौर पर इनकी कविताएं सांप्रदायिक, जातिवादी तथा दलित आंदोलन के अवसरवादी स्वरुप तथा सत्ता और आंदोलनों के जातिवादी और लैंगिक चरित्र के खिलाफ चेतना का विस्तार करती हैं।

दलित साहित्य में देश की एक वैकल्पिक परिकल्पना मौजूद है। यह जो विरासत में मिला हुआ देश है वह नाकाफी है। इसलिए देश का सपना यहाँ अलग ढंग से आकार लेता है। देश में कविता और कविता में देश कब गूँथ जाते हैं पता ही नहीं चलता। रजत रानी मीनू का कविता संग्रह 'पिता भी तो होते हैं माँ' (रानी 'मीनू'2015) की कविताएं इसी 'देश' को अपने में समाये हुए हैं। वह लिखती हैं-

कविता मेरा देश है
कविता मेरा भाव।
कविता एक स्त्री लिंगी शब्द है
जिसमे समाया है
पूरा का पूरा
विश्व परिवार (रानी 'मीनू'2015:53)

उनकी कविताएं व्यंग्य का रूप धर लेती हैं। लिखती हैं- देश का वंश चलाने के लिए मजदूर स्त्री देती है एक बच्चे को जन्म!'। इनकी कविताएं पितृसत्ता की खुले रूप में आलोचना करती हैं तथा पारिवारिक लोकतंत्र की आवश्यकता पर जोर देती हैं। ये प्रतीक नहीं बनातीं हैं अपनी बात सीधे सपाट शब्दों में और कई बार तो लम्बी-लम्बी कविताओं में कहती हैं। इनकी कविताएं रहस्य का आवरण नहीं बनाती हैं। इनकी कविताओं की विषयवस्तु व्यापक है। दलित स्त्री और दलित की स्थिति के लिए ब्राह्मणवाद और पितृसत्ता को जिम्मेदार ठहराती उनकी कविताएं जीवन के विविध आयाम को अपने दायरे में लाती हैं। उनकी कविता 'रविवार का दिन' तथा 'गोया मैंने किया है अपराध' सहित कई कविताएं पितृसत्ता की खुली आलोचना करती हैं। वह लिखती हैं-

तुमने बना
कर रख दिया आश्रिता मात्र
और मैं
गाती रही गीत

पिता की जमीदारी के
भ्राता और पति की मजबूती के (रानी 'मीनू'2015:69)

स्त्री मुक्ति की आकांक्षी उनकी कविताएं तब स्त्री विमर्श के विपरीत जाने लगती हैं जब वह कहती हैं-

वे स्त्रियाँ भाती हैं
जो करती हैं
सदाचार से प्यार
किसी भी हालत में
बेदाग बनाये रखती हैं
किरदार
वे स्त्रियाँ भाती हैं उन्हें। (रानी 'मीनू'2015-105)

यह कविता उनके सहज स्वाभाविक विचार से विपरीत यात्रा करती हुई कविता है।

असंग घोष जी प्रशासनिक सेवा से संबंध रखते हैं। उनका कविता संग्रह 'समय को इतिहास लिखने दो' (घोष 2015) को पढ़कर दलित साहित्य में व्यक्त होने वाला आरंभिक आक्रोश दिखता है। उनकी कविताएं आक्रोश से आशा की ओर बढ़ती हुई दिखती हैं। डांटने फटकारने की शैली के कारण कविताएं दलित साहित्य के नए शैली को जन्म देती हैं। यह शैली बेहद आत्मविश्वास के बिना संभव नहीं हो सकती थी उनकी लेखनी विद्रोह का बीज बोती है।

मैंने
अपनी लेखनी से
तेरे खिलाफ
विद्रोह का बीज
बो दिया है। (घोष 2015:83)

उनकी कविता में फटकार का एक नमूना यह है-

इससे पहले
की मेरे सारे औजार
मेरे शस्त्र बनकर
तुम्हारे खिलाफ
विद्रोह करें
तू भाग जा यहाँ से (घोष 2015रू84)

स्त्री के प्रति संवेदनशीलता उनकी कविता की विशेषता है। वह लिखते हैं-

तुम्हारे लिए
स्त्री थी
केवल एक देह (घोष 2015:91)

उनकी कविताओं का मुख्य स्वर ही है आक्रोश। उनको इसका प्रभाव भी पता है। लिखते हैं-

तुझे
पसंद नहीं है
मेरा कविता करना
इन कविताओं में
तुम्हें गाली-गुप्तार की
ध्वनि सुनाई देती है। (घोष 2015:109)

संत राम आर्य चर्चित दलित साहित्यकार हैं। उनका कविता संग्रह है 'दर्द की भाषा'। (आर्य 2014) जिस आत्मालोचना की उभरती हुई प्रवृत्ति की बात ऊपर की गयी है वह इस काव्य संग्रह में दर्ज है। अपनों से ही शिकायत करती कविता-

यहाँ अपने अपनों को काटते हैं
जोड़ते नहीं बांटते हैं
टुकड़े-टुकड़े कर दिए हैं देश और आदमी के (आर्य 2014-27)

दलित अभिजन प्रवृत्ति और सामाजिक कुरीतियों की आलोचना करती कविताएं सांप्रदायिक उन्माद की भावना से हमें सचेत करती हैं। इनका उपन्यास है 'अमन के रास्ते'(आर्य 2015)। यह उपन्यास अंतरजातीय विवाहों में आने वाली कठिनाईयों को ध्यान में रखकर लिखा गया। विवाह संस्था एक सामाजिक शक्ति संरचना के साथ-साथ लैंगिक शक्ति संबंध को भी अभिव्यक्त करता है। जातिवादी पूर्वाग्रह और हमारी सामाजिक रूढ़ियों का भी अपना वर्चस्वशाली ढांचा होता है। इसके कारण अंतरजातीय विवाहों के संबंध निर्धारित होते हैं। यह उपन्यास इन्हीं समस्याओं को उजागर करता है तथा इसकी ऐतिहासिकता को भी अपने दायरे में शामिल करता है।

साहित्य में कविता अपने छोटे कलेवर के कारण जल्दी पढ़ ली जाती है और कम शब्दों में वह अपनी बात भी समाज को पहुँचा देती है। लेकिन कहानी

और उपन्यास के साथ यह स्थिति नहीं है। दलित साहित्य में कहानी विधा भले ही उतनी चर्चित नहीं रही हो लेकिन उसका प्रभाव एक हद तक रहा है। लेकिन यह कहा जा सकता है कि दलित कहानी की प्रतियोगिता दलित कविता से ही रही है। ओमप्रकाश वाल्मीकि एक ऐसे दलित साहित्यकार रहे जिनकी लगभग सारी विधाओं की खूब चर्चा हुई। उनकी कहानियाँ भी उतनी ही गंभीरता से पढ़ी गयीं जितनी उनकी आत्मकथा और कविताएं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ अपने कहानीपन का एक अलग अंदाज लिए हुई थीं लेकिन उनकी विषय वस्तु प्रायः जातिवादी दमन और आतंरिक जातिवाद और ब्राहमणवादी संस्कृति थे। दलित कहानी का समकालीन परिदृश्य थोड़ा समृद्ध हुआ है। विषयवस्तु का विस्तार हुआ है। बाजार, नयी पूंजी, लैंगिक उत्पीड़न, दलित समाज के भीतर व्याप्त आधुनिकता विरोधी रूढ़ियाँ, ब्राह्मणवाद का पूंजीवाद के साथ मिलकर उत्पीड़न के नए तरीकों को जन्म देने की प्रवृत्ति की पहचान इसमें प्रमुख हैं।

टेकचंद हमारे समय के महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं। उनकी कहानियाँ उपरोक्त विषयों पर केंद्रित हैं। टेकचंद की कहानियाँ ग्रामीण जीवन का यथार्थ कम गाँव के कस्बा में बदलते जाने और अंततः शहर तक के परिवर्तन को अपना विषय बनाती हैं। इनकी कहानियाँ दिल्ली के आस-पास के गांवों में आने वाले दलित समाज और गैर-दलित समाज के भीतर के बदलाव पर केंद्रित हैं। विकास की गति में दलित जीवन का मनोवैज्ञानिक महाख्यान प्रस्तुत करती हैं। गतिशीलता, इतिहासबोध की स्पष्टता इनकी कहानियों की विशेषताएं हैं। उनका कहानी संग्रह है- 'मोर का पंख'। (टेकचंद 2015) इसकी एक कहानी है 'ए टी एम'। यह कहानी में एक ऐसी स्त्री की दशा के बारे में चित्रण है जो पढ़ी लिखी है नौकरी पेशा है। उसके पति सहित ससुराल वाले यह चाहते हैं कि अपनी पूरी कमाई वह ससुर या पति के हाथ में रख दे और अपने खर्च के लिए भी उन्हीं पर निर्भर करे। पहले तो नहीं बाद में लेकिन वह इस बात का विरोध करती है और कहती है- 'मैं मर-मर कर कमाऊ और कमाई पर मेरा हक भी नहीं। अपने लिए तो किसान पंचायत में सीना ठोक कै कहो हो के 'धरती किसकी? जो बोवै उसकी!' फिर मेरी बारी में दोगली बात क्यों? मेरी मेहनत की कमाई पर मेरा हक क्यूँ ना हो? अपना ए टी एम, अपनी कमाई मैं किसी को देने वाली नहीं हूँ'(टेकचंद 2015-124)। यह दलित समाज में स्त्री अधिकार दावा प्रस्तुत करती कहानी है। इनकी लगभग सारी कहानियाँ दिल्ली

के आप-पास के क्षेत्रों की विषयवस्तु वाली हैं। अगर बदलती हुई दिल्ली का सबाल्टर्न इतिहास जानना है तो टेकचंद जी की कहानियाँ आप को सूक्ष्मता से इसमें मदद करेंगी।

रत्न कुमार सांभरिया वरिष्ठ साहित्यकार हैं। 2015 में प्रकाशित कहानी संग्रह 'एयरगन का घोड़ा' (सांभरिया 2014) है। इस संग्रह की कहानियाँ तिरस्कार की परंपरा को खारिज करते हुए दलित-शोषित में साहस, संबल और स्वाभिमान पैदा करती हैं। इस कविता संग्रह की एक कहानी है– पुरस्कार। यह कहानी उच्च संस्थानों में व्याप्त महिला शोषण की प्रवृत्ति की आलोचना करती है और महिला स्वाभिमान की भावना को जगाती है। यही विशेषता उनकी 'विद्रोहिणी' कहानी में भी है। यह कहानी एक स्वाभिमानी विधवा स्त्री की है जो समाज के बहुत सारे नियम-कानून को अपनी स्वतंत्रता में बाधा मानती है और मध्ययुगीन खाप पंचायत को नकार देती है। उसके पति की मृत्यु के बाद उसके रहन-सहन से परेशान उसके ससुराल वाले खाप पंचायत का आयोजन करते हैं, लेकिन वह बहुत बहादुरी से पंचायत में जाने से मना कर देती है। वह कहती है- 'जो आदमी किसी अकेली औरत का आधी रात दरवाजा खटखटाए, वह पंचायत करेगा? आप जाएँ, मुझे बच्चे को होमवर्क करवाना है।' (सांभरिया 2015-130) इस तरह हम देखते हैं कि उनकी कहानियाँ स्त्री मुक्ति की उनके आत्मविश्वास की नयी परिभाषा गढ़ती हैं। दलपत चौहान का कहानी संग्रह 'ठंडा खून' (चौहान 2015) है। इनकी कहानियाँ दलित जीवन के विभिन्न आयामों को अपने में समाहित करती है। उनकी कहानियाँ उन्हीं के न भुलाये गए अतीत का दस्तावेज हैं। एक तरह से कहानी संग्रह के रूप में यह उनकी आत्मकथा कही जा सकती है।

दलित साहित्य में उपन्यास विधा को अभी और विस्तार लेना बाकी है। संभवतः अनुभव के हू-ब-हू व्यक्त कर देने के दबाव ने दलित साहित्य में कलात्मक सृजन में एक बाधा पैदा किया। हालाँकि अपनी बात को कहने के लिए कलात्मक पैमाना तय कर देने से उसकी स्वभाविकता नष्ट होने का खतरा रहता है। सुशीला टाकभौरे का उपन्यास 'तुम्हे बदलना ही होगा'(टाकभौरे 2015) अपनी विषयवस्तु और प्रवाह के कारण ध्यान आकर्षित करता है। सुशीला जी की नजर समाज के अनेकों सवालों पर रहती है। दलित साहित्य की मूल चिंता है जातिवाद का खात्मा। यही चिंता उनके उपन्यास में अभिव्यक्त हुई है। उनका उपन्यास यह प्रस्तावित करता है कि लोग अंतरजातीय विवाह तो करते

हैं, लेकिन उच्च कही जाने वाली जातियाँ बहुत हद तक आपस में ही अंतरजातीय विवाह करती हैं। इस दृष्टिकोण को बदलना होगा तभी समाज से जाति का खात्मा होगा। दलित साहित्य आलोचना का भी विकास होना चाहिए। दलित साहित्य का दलित दृष्टिकोण से आलोचनात्मक मूल्यांकन अभी भी एक महत्त्वपूर्ण और जरुरी कार्यभार बना हुआ है। बजरंग बिहारी तिवारी दलित साहित्य के गंभीर अध्येता माने जाते हैं। उनकी पुस्तक 'दलित साहित्य– एक अंतर्यात्रा (तिवारी 2015) हिंदी दलित साहित्य के मूल्यांकन का एक प्रयास है। अपनी पुस्तक के कविता वाले अध्याय में वे जयप्रकाश लीलवान की कविताओं पर लिखते हुए जो निष्कर्ष देते हैं वह समकालीन आलोचना के परिदृश्य से एक प्रश्न है। वह लीलवान की कविताओं पर लिखते हुए कहते हैं– 'लीलवान की "समय की आदमखोर धुन" शीर्षक पचास पेज लम्बी कविता हिंदी के समकालीन काव्य–परिदृश्य की एक उपलब्धि है। इसे भारतीय कविता का प्रतिनिधि स्वर कहा जा सकता है। यथार्थ के सुनियोजित आभासीकरण को पहचानती हुई यह कविता उन क्रूरताओं और नृशंसताओं को चिन्हित करती है जिसे "तकनीक सज्जित निरंकुश वर्चस्व" ने चकाचौंधी आवरण से ढक दिया है।' (तिवारी 2015:62) जाहिर है समकालीन हिंदी आलोचना जब ऐसी कविताओं की कोई सुध नहीं ले रही है तब बजरंग जी का ऐसी कविता पर ध्यान जाना और उसके महत्त्व को रेखांकित करना समकालीन आलोचना के इकहरे और पूर्वाग्रही स्वरुप को तोड़ता है। बजरंग जी की आलोचना दृष्टि मार्क्सवादी है वे अपनी आलोचना में द्वंद्वात्मक पद्धति का इस्तेमाल करते हैं यही कारण है कि दलित साहित्य के प्रति उनका दृष्टिकोण भावुकता वाला नहीं है। वह हमेशा उसकी सकारात्मकता के साथ उसके नकारात्मक पहलू को भी सामने लाते हैं। बजरंग जी दलित साहित्य का समग्र मूल्यांकन करते हुए इस बात की आशा करते हैं कि जिन सवालों पर दलित साहित्यकारों की पहली पीढ़ी ने नहीं लिखा उस पर वर्तमान पीढ़ी लिखेगी। जेंडर, पितृसत्ता, भूमंडलीकरण, बाजारवाद आदि को वे ब्राह्मणवाद के नए नए रूप मानते हैं और इसकी सत्ता को मजबूत करने वाली शक्ति (प्रतिक्रियावादी, फासीवादी, पूंजीवादी) के षड्यंत्र को उजागर करने पर जोर देते हैं आलोचना का समकालीन परिदृश्य दलित साहित्य को गंभीरता से स्वीकार करते हुए इसका मूल्यांकन कर रहा है यह एक अच्छी स्थिति है। दलित साहित्य की कई मूल स्थापनाओं का समर्थन करती उनके विस्तार की मांग करती और उनसे बहस करती यह किताब दलित साहित्य और हिंदी आलोचना को समृद्ध

करती है। 2015 में उनकी प्रकाशित पुस्तकें जाति और जनतंत्र, दलित उत्पीड़न पर केंद्रित, भारतीय दलित साहित्य आंदोलन और चिंतन, यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री से जुड़ीआलोचना (भारती और तिवारी 2015) हैं।

समाज में एक हद तक बदलाव तो आया है, लेकिन दलित उत्पीड़न और हत्याओं, बलात्कारों, और बहिष्कार की अनगिनत घटनाएं अभी भी घटती चली जा रही हैं। दलित उत्पीड़न और हत्या के मामले में 2015 का वर्ष मध्यकालीन बर्बरता को मुँह चिढ़ा रहा है। ऐसी ही एक घटना राजस्थान के डांगावास में दलित संहार की है। इस घटना में पांच लोगों को जाट समुदाय के लोगों द्वारा बर्बर तरीके से मौत के घाट उतार दिया गया और 11 लोगों को गंभीर रूप से घायल कर दिया गया। इस घटना पर विस्तृत रिपोर्ट स्वतंत्र पत्रकार भंवर मेघवंशी ने प्रकाशित कर इस घटना की मुख्य सच्चाई को सबके सामने लाने का सराहनीय प्रयास किया है।

❒❒❒